यज्ञ

यज्ञ की व्याख्या

भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों में से यज्ञ एक है। यह कहना अधिक ठीक है कि यज्ञ भारतीय संस्कृति का प्राण है। आर्य मानव जब माता के गर्भ में होता है, तभी यज्ञ द्वारा संस्कृत होना प्रारम्भ हो जाता है। यज्ञ के वातावरण में ही वह जन्म लेता है, यज्ञ द्वारा ही पालित पोषित होता है, यज्ञ में ही अपना समग्र जीवन व्यतीत करता है, अन्त में यज्ञ द्वारा ही अपनी इहलोकलीला को समाप्त करता है। जीवन में उसे दैनिक अग्निहोत्र, पंचयज्ञ, षोडश संस्कार तथा अन्य कई श्रीत यज्ञ तो करने होते ही हैं, पर शास्त्रकारों ने यहाँ तक कहा है कि वह अपने सम्पूर्ण जीवन को ही यज्ञरूप समझे। उपनिषद् में लिखा है - पुरुषो वाव यज्ञः।

मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है। उसकी आयु के जो प्रथम चौबीस वर्ष हैं, वे मानो प्रातः सवन है, अगले चौबीस वर्ष माध्यन्दिन सवन हैं, अगले अड़तालीस वर्ष तृतीय सवन हैं। इस प्रकार यह एक सौ सौलह वर्ष चलने वाला यह है यज्ञ| मनुष्य को चाहिए कि इसे मध्य में ही आधि-व्याधियों से खण्डित न होने दे। 1. यज्ञ शब्द का अर्थ – 'यज्ञ' शब्द देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थवाली यन् धातु से नह प्रत्यय करके निष्पन्न होता है जिस कर्म में परमेश्वर का पूजन, विद्वानों का सत्कार, संगतिकरण अर्थात् मेल और हवि आदि का दान किया जाता है, उसे यज्ञ कहते हैं। आचार्य सायण का मत है कि देवता विशेष के लिए अग्नि में हव्य पदार्थों का त्याग करना यज्ञ कहलाता है - उद्दिश्यं देवतां द्रव्य त्यागो यागोऽभिधीयते।

मत्स्य पुराण में यज्ञ का लक्षण उसके अंगों को आधार मानते हुए किया गया है। उसके अनुसार देवताओं, हवियों, ऋक्, साम, यजुषु मन्त्रों एवं ऋत्विजों तथा दक्षिणा का संयोग जिस कर्म में किया जाता है वह यज्ञ कहलाता है -

देवतानां देयहविषां ऋक् साम यजुषां तथा । ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते।।

आचार्य यास्क के अनुसार यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरुक्ता:* निघण्टु (3.17) में वेन, अध्वरः, मेधः, नार्य:, सवनम् होत्रा, इष्टिः, देवताता, विष्णु, इन्द्रः, प्रजापतिः, धर्म आदि यज्ञ के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं। अतः यज्ञ उसको कहते हैं जिसमें विद्वानों का सम्मान, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टिजल, औषधि की पवित्रता करके जीवों को सुख पहुँचाना है। धात्वर्थ के आधार पर आर्योद्देश्यरत्नमाला (47) में यज्ञ की परिभाषा इस प्रकार है-

" जो अग्निहोत्र से लेकर अवश्वमेधपर्यन्त वा जो शिल्प व्यवहार और जो पदार्थ विज्ञान है, जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको यज्ञ कहते हैं।"

यज्ञ सृष्टि तथा जागतिक पदार्थों में सतत् चलने वाली आदान-प्रदान की प्रक्रिया और जीव का ब्रह्म में समर्पण आदि का वाचक है। इस प्रकार यज्ञ प्रक्रिया भेद से मुख्यतः दो प्रकार का होता है प्राकृत यज्ञ और भौतिक यज्ञ । प्राकृत यज्ञ प्रकृति में 'ऋत' के माध्यम से निरन्तर चल रहा है, उसी का अनुकरण कर भौतिक यज्ञ का विधान किया गया है। प्रकृति के अंगभूत प्राणियों में भी निरन्तर यज्ञ की प्रक्रिया हो रही है। यहाँ वैश्वानर अग्नि (जठराग्नि) में नित्य (भोज्यपदार्थ) अन्न की आहुति दी जा रही है जिससे प्राणियों में शक्ति सम्वर्द्धन होता रहता है। भौतिक यज्ञ इन्हीं सूक्ष्म यज्ञों का प्रतीक है। इसी का अनुकरण कर वैदिक ऋषियों ने धार्मिक कृत्य के रूप में स्थूल यज्ञ का विकास किया और इसे श्रेष्ठतम कर्म माना। सामान्यतः देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग को यज्ञ कहा जाता है।" ये यज्ञ वस्तुतः देवों की प्रसन्नता के लिए किए जाते हैं। प्रकृति में चलने वाले यज्ञ दैवी हैं, परन्तु भौतिक यज्ञ मानवी हैं।

2. यज्ञ का विकास

वैदिक वाङ्मय में सृष्टि के विकास की कथा और यज्ञ के विकास का स्वरूप दोनों निरन्तर गतिशीलता और परिवर्तन की प्रक्रिया से परिपूर्ण परिलक्षित होते हैं। जिस प्रकार सृष्टि के विकास में अनेक तत्त्वों का सम्मिश्रण और अनेक विचारधाराओं का सम्मिलन दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार यज्ञ के विकास की परम्परा में भी अनेक रूपों का सम्मिलन प्राप्त होता है। समग्र सृष्टि की प्रक्रिया ही यज्ञ प्रक्रिया के रूप में मानी गई है। यदि हम यज्ञ को सृष्टि प्रक्रिया का रूपक कहें तो अनुचित नहीं होगा। विश्व की नियामक शक्ति के रूप में ऋत की कल्पना" और ऋत को यज्ञ का स्वरूप तथा यज्ञ को ऋत का कारण मानना यज्ञ को ही रूपायित करना है।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में सृष्टि-विस्तार के लिए स्वयं विराट् (पुरुष) पशु रूप में बँधा, जो सृष्टि-रूप यज्ञ प्रक्रिया का रहस्य उद्घाटित कर रहा है। यजुर्वेद के सप्तदश अध्याय में सभी विश्वकर्मा यज्ञ वर्णित है, जो वस्तुतः यज्ञ रूप में सर्गरचना का ही वर्णन है।" यज्ञ की प्रक्रिया शनै: शनै: यजुर्वेद तक और सुदृढ़ होती गयी। यज्ञ के विकासात्मक स्वरूप पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद काल से लेकर यजुर्वेद काल तक आते-आते उस संस्था में सामाजिक परिवर्तनों व देशकालादि ने बहुत योगदान दिया है। यजुर्वेद संहिताओं में उसके स्वरूप, संगठन, कार्यपद्धति आदि में बहुमुखी विकास हुआ है।

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ के विषय में कहा गया है कि यज्ञ जिस प्रकार दिखाई पड़ता है वैसा नहीं है। देवता भी परोक्ष हैं और यज्ञ भी परोक्ष है। 4 यज्ञों का विधान अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया गया, किन्तु विकासात्मक प्रक्रिया भौतिक समृद्धि के साथ निम्न उद्देश्य भी संयुक्त होते चले गए जिनसे यज्ञों में अनेक प्रकार की विकृतियाँ भी आयीं। अथर्ववेद में अनेक अभिचार मन्त्रों में उनका रूप देखा जा सकता है। आरण्यकों में वर्णित यज्ञों के विधि-विधान के साथ-साथ उनके आध्यात्मिक और दार्शनिक पक्ष को भी उद्घाटित किया गया है। बृहदारण्यक, छन्दोग्य आदि उपनिषदों में मात्र प्रतीकों के माध्यम से सम्पूर्ण यज्ञ-प्रक्रिया की साधना की शिक्षा का वर्णन है। आरण्यकों में यज्ञ-सम्बन्धी वस्तुओं पर ध्यान के द्वारा विचारों की एकाग्रता का महत्त्व है। यज्ञ के बिना भी यदि कोई मनुष्य ध्यान लगाता है तो उसे यज्ञ के ही फल की प्राप्ति होगी 115

यज्ञ-प्रक्रिया वैदिक दर्शक को समझने, शाश्वत सत्य को प्राप्त करने और परमात्मा को प्राप्त करने के साधन रहे हैं। वैदिक ऋषियों ने जिस परमसत्य का दर्शन किया उसी को अपने जीवन में उतारा और उसी के माध्यम से अपने समाज का निर्माण किया। यज्ञ प्राचीन काल में उद्भूत हुआ, परन्तु कालान्तर में यह सूक्ष्म से स्थूल और स्थूलतर होता हुआ कर्मकाण्ड तक सीमित रह गया। इस प्रकार कालक्रम से विकास की परम्परा ने यज्ञ जैसे पवित्र शाश्वत सत्य को लौकिक सुख का कारण मानकर कर्मकाण्ड का जटिल रूप दे दिया।

3. यज्ञ के तत्त्व

संहिताओं और ब्राह्मणों में बहुधा यज्ञ को पंक्ति अर्थात् पाँच अंगों वाला कहा गया है।" देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक और दक्षिणा को यज्ञ के पाँच अंगों में परिगणित किया है। वस्तुतः ये पाँचों यज्ञ के मूल तत्त्व हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भी यज्ञ सम्पादन में अनेकानेक वस्तुओं और व्यक्तियों का योगदान अपेक्षित है। इन सब अपेक्षित साधनों को सामान्यतः तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं-

1. यज्ञ के आधार ।

2. यज्ञ के सम्पादक

(i) यज्ञ का संकल्पकर्ता

(ii) यज्ञ के अनुष्ठाता

(iii) आनुषंगिक कार्यकर्ता

3. यज्ञ के उपकरण

. यज्ञ के आधार

देवता, मन्त्र और हवि यज्ञ के मूलाधार तत्त्व हैं।" इन्हीं के चारों ओर यज्ञ क्रियाओं का समस्त ताना-बाना बुना जाता है। वस्तुतः देवता यज्ञ का सर्वप्रथम तत्त्व हैं।" यज्ञ से देवताओं की ही नानाविध उपासना कर उनका अनुग्रह पाया जाता है, किन्तु मूलतः देवता यजमान के उद्देश्य की प्राप्ति का एक माध्यम मात्र है तथापि यह माध्यम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। देवता के अनुसार ही तत्सम्बन्धी मन्त्र और हवि का प्रयोग भी फल प्राप्ति के लिए साधन रूप ही है। यज्ञों के उद्देश्य के भेद के कारण प्रत्येक यज्ञ के मुख्य देवता भिन्न-भिन्न और एक अथवा अनेक होते हैं। मन्त्र और हवि का प्रयोग देवता के अनुरूप ही किया जाता है। यज्ञ के सर्वप्रमुख देवता अग्नि, विष्णु, इन्द्र और सोम हैं। प्रायः सभी यज्ञों में इनका स्थान है। द्वितीय कोटि के देवताओं में वरुण, अदिति, सविता, पूषा, मरुत्, विश्वदेवा, धावापृथिवी और सरस्वती आदि हैं, इनकी स्थिति सब यागों

में न होते हुए भी अनेक बागों में है। तीसरी कोटि में गौण देवता है इनका स्थान एक या दो से अधिक में नहीं है अनुमति, राका, कुछ सिनीवाली, निऋति, पितर, मरुतों के क्रीडिन्, सान्तपन और गृहमेधी रूप तथा ऋम्बक" हवियों में आज्य के अतिरिक्त पृषादाज्य, पुरोडाश, चरु और सोम प्रमुख हैं। सान्नय्य, आभिक्षा, वाजिन, करम्भ, मन्य और धाना आदि हवियाँ भी प्रयुक्त होती हैं। कभी-कभी 14 प्रकार के अन्न, दही, पयस् और सुरा का प्रयोग भी होता है। पशुयाग में पशु की हवि मुख्य है।

1. यज्ञ के सम्पादक

यज्ञ को सम्पन्न करने में जिन व्यक्तियों का योगदान आवश्यक है, उन्हें

भी तीन वर्गों में बांट सकते हैं-

(i) यज्ञ का संकल्पकर्ता

वैदिक यज्ञों के संकल्पकर्ता, देवयजन के अभिलाषी व्यक्ति को यजमान कहते हैं। यह यजमान संकल्पात्मक मन का ही रूप है। यही यज्ञकर्ता है, अतः अपने यज्ञ का प्रजापति है। यज्ञ सम्बन्धी व्रतों के पालन का दायित्व भी यजमान पर है। अतः यही यज्ञ के समस्त फल का अधिकारी है। ऋत्विज इसी के लिए नानाविध ऐश्वर्य की कामना करते हैं।

यजमान पत्नी की उपस्थिति भी यज्ञ की पूर्णता के लिए आवश्यक है, क्योंकि अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः ।" यजमान के साथ वह भी स्वर्गलोक, की भागी होती है।

(ii) यज्ञ के अनुष्ठाता

यजमान के बीजरूप संकल्प को पल्लवित और पुष्पित वृक्ष का रूप देने वाले यज्ञविधियों के अनुष्ठाता, ऋत्विज भी यजमान द्वारा ही चुने जाते हैं। अतः यदि यजमान यज्ञ की आत्मा है तो ये ऋत्विज् यज्ञ के अंग हैं।

तैतिरीय ब्राह्मण" के अनुसार अग्निहोत्र में एक, दर्शपूर्णमास में चार, चातुर्मास्यों में पाँच, पशुयागों में छह, सोमयागों में सात और सत्रों में दस ऋत्विज् होते हैं। अग्न्याधान एवं दर्शपूर्णमास में ऋत्विजों में होता, अध्वर्यु, आग्नीध एवं ब्रह्मा की आवश्यकता होती है।"

सोमयागों के 16 ऋत्विजों में प्रमुख चार ऋत्विजों में होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता आते हैं। इनमें अग्नीध्र ब्रह्मा का सहयोगी ऋत्विक् माना गया है। वस्तुतः सोमयागों में सामगान की विशिष्ट स्थिति होने के कारण उद्गाता को प्रमुख स्थान दिया गया है। इस तरह हवि-यज्ञों के चार और सोमयाग के अन्य प्रमुख ऋत्विज उद्गाता को मिलाकर कुल पाँच प्रधान ऋत्विक हैं। इनके कार्य इस प्रकार है

1. अध्वर्यु - यह मुख्यतः यजुषों द्वारा यज्ञ की प्रायः सभी विधियों का अनुष्ठाता है। -

2. होता - ऋग्वेदीय मन्त्रों से याज्यानुवाक्या मन्त्रों का पाठ करता है। शास्त्र आदि तथा हवियों के यायावाक्या मन्त्रों का पाठ करता है।

3. उद्गाता - यथासमय सामों का गान करता है।

4. ब्रह्मा - यज्ञ का निरीक्षण करता हुआ कुछ विधियों को सम्पन्न करके यज्ञ के न्यूनाधिक दोषों का परिमार्जन करता है।

अतः ब्राह्मणों में अध्वर्य को यज्ञ की प्रतिष्ठा, अग्नीघ्र को यज्ञ का मुख, होता को आत्मा, उद्गाता को यश और ब्रह्मा को चिकित्सक कहा गया है। होता का स्थान वेदी के उत्तर में, ब्रह्मा का दक्षिण में, उद्गाता का पूर्व में, अध्वर्यु का पश्चिम में होता है। यजमान अध्वर्यु और ब्रह्मा के मध्य में दक्षिण पश्चिम कोण पर पीछे की ओर बैठता है। यजमान पत्नी का स्थान सिर्फ गार्हपत्य वेदी के पश्चिम में काफी पीछे होता है।

ये सभी ऋत्विज् अनिवार्य रूप से दक्षिणा के पात्र होते हैं। दक्षिणाहीन यज्ञ नष्ट हो जाता है और दक्षिणा से यज्ञ समृद्ध होता है। दक्षिणा में मुख्य पदार्थ चार हैं- हिरण्य, वस्त्र, गाय और अश्व ।" किन्तु अन्य भी नानाविध वस्तुएँ देने का विधान है।

(iii) आनुषंगिक कार्यकर्त्ता

यज्ञ के तीसरे प्रकार के व्यक्ति ऐसे 'आनुषंगिक कार्यकर्त्ता' है, जो आवश्यकतानुसार किए जाने वाले एकाध कार्य के करने में सहयोगी बनते हैं। ऐसे कार्यकर्त्ताओं का स्वतंत्र महत्त्व और अस्तित्व कुछ नहीं है। इनमें हवि के कूटने पीसने वाले हविष्कृत, पशु के मारने वाले शामितृ और सोम विक्रेता आदि आते हैं।

3. यज्ञ के उपकरण

यज्ञ के प्रमुख नानाविध उपकरणों का वर्णन इस प्रकार है।

1. जुहू - यह पालाश वृक्ष की होती है। इसका अग्रभाग हथेली के बराबर चौड़ा, 6 अङ्गुल खोदा हुआ, और पीछे का भाग दण्डाकार होता है। इसकी पूरी लम्बाई बाहुमात्र होती है। इसका आकार चम्मच जैसा होता है। इससे यज्ञों में आहुति दी जाती है। इसे यज्ञ का दाहिना हाथ, यजमान का प्रतीक माना गया है। यह खादिर की लकड़ी से भी बनता है।

2. उपभृत - यह (अश्वत्थ) पीपल के वृक्ष की होती है। इसका आकार जुहू के समान होता है। इसे यज्ञ का बाँया हाथ भी कहा जाता है। इसकी उपमा अन्तरिक्ष लोक से दी जाती है। इसकी लम्बाई बाहुमात्र या 24 अंगुल होती है।

3. ध्रुवा - यह विकंकत वृक्ष की होती है। इससे यज्ञों में आहुति दी जाती है। इससे विशेषत: घृत को हवि रूप में ग्रहण किया जाता है। ध्रुवा को हृदय के ऊपर धारण करना चाहिए। इसकी लम्बाई 24 अङ्गुल होती है।

4. अग्निहोत्रहवणी - यह भी विकङ्कत वृक्ष की होती है। इससे अग्निहोत्र किया जाता है- अग्निहोत्र हूयते ऽनयेति इसका मुख वृत्ताकार होता है। हाथ से पकड़ने के लिए इसके एक ओर हत्था लगा होता है। इस पात्र से प्रातः होम में दूध की आहुति दी जाती है।

5. स्रुव - यह खदिर (खैर) वृक्ष का होता है। इसे लोकभाषा में सुवा कहते हैं। यह उदुम्बर, पलाश और विकङ्कत लकड़ियों से भी निर्मित होता है। यह अंगूठे के पौर के आकार में खुदा हुआ आलि (22 अंगुल) प्रमाण लम्बा गोल दण्डेवाला होता है।

6. कूर्च - यह वरण वृक्ष का होता है। यह अग्निहोत्रहवणी के नीचे रखा जाता है।

7. स्पय (वज्र) - यह खदिर वृक्ष का होता है। कृपाण की आकृतिवाला अरत्नि प्रमाण का होता है।

8. उलूखल - मुसल ये पलाश वृक्ष के होते हैं। उलूखल बैठे हुए व्यक्ति के नाभिपर्यन्त कँचा तथा मुसल शिरपर्यन्त ऊँचा होता है। इनका प्रयोग व्रीहि, जौ आदि कूटने में होता है।

9. शूर्प (सूप) - यह बाँस की पतली सींक का अथवा सरकण्डे का बना होता है। इसमें चर्म व नाड़ का प्रयोग वर्जित है। यह हवियों को साफ करने के लिए होता है।

10. कृष्णाजिन - यह काले मृग का अखण्डित चर्म होना चाहिए। अखण्डित कहने का तात्पर्य है गोली या बाण से मारे गये मृग का चर्म नहीं होना चाहिए। यह ऊखल के नीचे बिछाने के लिए होता है, जिससे व्रीहि या जौ कूटते हुए उछल कर गिरने वाले दाने भूमि पर न गिरे।

11. दृषद् उपल - यह सुदृढ़ पत्थर के होने चाहिए जिससे व्रीहि वा - जौ के पीसने पर पत्थर घिस कर न उतरे। इसका प्रमाण 12 अंगुल चौड़ा 18 अंगुल लम्बा होना चाहिए। उपल यज्ञीय पात्र है, जिससे सोम पौधों का रस निचोड़ा जाता है। उपल का परिमाण 6 अंगुल होना चाहिए।

12. इडायात्री - यह वरण वृक्ष की होती है। इसमें दधि, मधु एवं घृतादि हावयाँ रखी जाती हैं। यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए हवियों से पूर्ण पात्री को यजमान अपने उदर पर धारण करता है। यह मिट्टी से बनता है। यह एक हाथ (24 अंगुल) अथवा अरत्नि (22 अंगुल) लम्बी 4 अंगुल ऊँची बीच में सुकड़ी, मध्य में खुदी होनी चाहिए। पकड़ने के लिए चार अंगुल का दण्डा होना चाहिए।

13. आसन - ब्रह्मा, अध्वर्यु. यजमान, यजमान पत्नी, होता आदि के - लिए कुशा से निर्मित आसन होता है। यह 22 अंगुल लम्बा व चौड़ा होता है।

14. योक् योक् - यह मूंज की तीन लड़ी कटी हुई लम्बी रस्सी होती है। यह यज्ञ कर्म में यजमान पत्नी के कटिप्रदेश में बांधने के लिए होती है। इसकी लम्बाई चार हाथ होती है।

15. पुरोडाश पात्री - पुरोडाश रोटी अथवा लिट्टी बाटी का द्योतक है। पुरोडाश का प्रयोग प्रायः सभी यज्ञों में होता है। दर्शपूर्णमास में दो-दो पुरोडाश होते हैं। इनके लिए पृथक् पृथक् दो पुरोडाशपात्री होती हैं। यह 9 अंगुल लम्बी, 8 अंगुल चौड़ी मध्य में 6 अंगुल खुदी हुई होती है।

16. शृतावदान - यह 9 अंगुल लम्बा दो अंगुल फैला हुआ, इसका - अग्र भाग तीखा होता है। यह घरों में प्रयुक्त पलटे जैसा होता है। यह पके हुए पुरोडाश आदि के विभाजन के लिए होता है।

17. प्राशित्रहरण - (दो) ये चौकोर या गोल या गौ के कान के समान आकृति वाले, मध्य में थोड़े खोदे हुए होते हैं। यज्ञों में पुरोडाश आदि में से काटकर निकाला हुआ वह छोटा भाग जो ब्रह्मोद्देश्य से अलग करके प्राशित्रहरण नामक यज्ञपात्र में रखा जाता है।

18. रज्जु - यह मूंज की होती है, समिधा आदि के बांधने के लिए इनका प्रयोग होता है।

19. शंकु खैर की लकड़ी से निर्मित अग्रभाग से तीखे होते हैं। यह वेदि निर्माण के लिए स्थान नापने के काम में आते हैं। इनकी आवश्यकता के अनुसार संख्या होती है। ये 12 अंगुल लम्बे, माथे पर 4 अंगुल चौड़े होते हैं।

20. पूर्णपात्र (दो) - यजमान और यजमान पत्नी के लिए होते हैं। ये प्रायः सभी यज्ञों में प्रयुक्त होते हैं। इसमें रखा हुआ जल यज्ञीय विघ्नों को शान्त करता है तथा यजमान के शत्रुओं का विनाश करता है। ये 12 अंगुल लम्बे, 4 अंगुल चौड़े व 4 अंगुल गहरे खुदे हुये होते हैं।

21. आज्यस्थाली - घृत (आज्य) रखने के लिए। यह 12 अंगुल चौड़ा (गोल) 9 अंगुल ऊँचा होता है।

22. चरूस्थली - चरू अर्थात् (बिना मांड निकाले चावल) के पकाने के लिए होता है। यह 12 अंगुल चौड़ा, 9 अंगुल ऊंचा होता है।

23. अन्वाहार्यपात्र - चार पुरुषों के खाने योग्य चावल पकाने के लिए इसका प्रयोग होता है।

24. अरणी - इसके उत्तराणि तथा अधरारणि दो भेद हैं। ये पीपल की होती हैं। ये दोनों अग्निमन्थन (रगड़ कर आग उत्पन्न करने) के लिए प्रयुक्त होती है।

25. प्रोक्षणी - प्रोक्षणी जल सेचन आदि के लिए होती है। 26. ओवली यह अग्निमन्थन के समय उत्तराणि के ऊपर रख कर इससे दबाया जाता है। यह 12 अंगुल लम्बी होती है। इसके मध्य में छेद होता है।

27. इध्म - पलाश की समिधाएँ, ये अग्नि प्रज्ज्वलित करने के काम में आती है।

28. नेत्री - (नेत नेती) यह गौ के बालों की तीन लड़वाली रस्सी है। - यह चार हाथ लम्बी रस्सी होती है। इसे उत्तराणि में लपेट कर दोनों हाथों से अग्नि-मन्थन के लिए दधिमन्थन की रस्सी के समान खीचते हैं।

29. मदन्तीपात्र - मदन्ती उष्ण जल को कहते हैं। व्रीहि या जौ के पीसे हुए आटे को मिलाने के लिए गरम पानी की आवश्यकता होती है, उसी के लिए यह पात्र हैं।

30. पिष्टलेप-पात्री - पिष्टलेप पात्री में पिसे हुए आटे को मिलाते समय पात्र में जो अंश लग जाता है, उसे पानी से धोकर रखा जाता है।

31. शकट - दर्शपूर्णमासादि यज्ञों में उपयुक्त होने वाले हवि द्रव्य को - ग्रहण करने के लिए यज्ञशाला के समीप इस गाड़ी में व्रीहि या यव को रखकर लाते हैं।

32. कपाल - ये मिट्टी के बने छोटे-छोटे पतले, अग्नि से पके हुए फूटे घड़े की ठीकरियाँ जैसे होते हैं। इन पर पुरोडाश को रखकर पकाया जाता है। दर्शपूर्णमास में 19 कपाल अपेक्षित होते हैं।

33. कुशा - वेदि में बिछाने के लिए तथा घृत आदि के शुद्धिकरण के लिए अपेक्षित होती है।

34. कुम्भी - यह मिट्टी की पकी हुई हण्डिया है। इस में दूध गरम किया जाता है। इसका परिमाण दूध के परिमाण पर निर्भर होता है।

आधुनिक समय में यज्ञ के लिए जो प्रमुख उपकरण हैं वे निम्न हैं- 1. यज्ञ कुण्ड, 2. चार छोटी थालियाँ सामग्री के लिए, 3. चार साधारण कटोरियाँ, 4. घी के लिए एक बड़ी कटोरी, 5. चार छोटे चम्मच, 6. एक बड़ा चम्मच, 7. आध सेर घी, 8. धूप तथा एक दो पैकेट सामग्री, 9. चन्दन, पलाश या आम की समिधा, 10. चार मट्टी के दीये, 11. थोड़ी सी रूई बत्ती बनाने के लिए, 12. कपूर, 13. दीयासलाई, 14. हाथ से झलने का पंखा, 15. जलभरा कटोरा, 16. चार यज्ञोपवीत, 17. यज्ञ वेदी को सजाने के लिए आटा, पिसी हुई हल्दी, रोली, 18. छः आसन, 19. दो पुष्प मालाएं, 20. मिष्यन्न ।

आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार* के अनुसार यज्ञ छोटा हो या बड़ा इस बात को ध्यान में रखकर उपर्युक्त सामग्री में परिवर्तन किया जा सकता है। प्रतिदिन के होम में इतने सामान घी, सामग्री की आवश्यकता नहीं, साप्ताहिक होम में कुछ अधिक सामान चाहिए और संस्कारों के होम में लगभग ऊपर लिखा सामान जुटा लेना चाहिए।

वस्तुतः यज्ञ को वैदिक वाङ्मय में त्रिवृत् कहा गया है। यही कारण है कि यज्ञ से सम्बद्ध सभी तत्त्व तीन-तीन हैं। यज्ञ में प्रयुक्त त्रयी विद्या प्रख्यात है- सैघा त्रयी विद्या सौम्येऽध्वरे प्रयुज्यते।" यज्ञ में प्रातः, माध्यन्दिन और सांय सवन तीन हैं।" समिधा, घृत और हवि में साधन भी तीन हैं - बसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः ।" मुख्य समिधा भी तीन हैं आहवनीय, दक्षिण एवं गार्हपत्य अग्नियाँ भी तीन ही हैं।" शतपथ ब्राह्मण (1.1.4.23) यज्ञ को त्रिवृत् यज्ञ की संज्ञा देते हुए उल्लेख करता है। त्रिवृद्धि यज्ञः ।

4. यज्ञों में अग्निचयन की विधेयता

अग्निचयन कोई स्वतंत्र यज्ञ नहीं है। शतपथ ब्राह्मण के अनेक कथनों से यह प्रमाणित होता है कि अग्निचयन सोमयाग का अंग है।" सोमयागों में अग्निचयन करना आवश्यक एवं नियत नहीं है। गवामयन सत्र के उपान्त्य दिवस में करणीय महाव्रत के आहवनीय में अग्नि का चयन नित्यविधि है।" प्रथम अनुष्ठेय सोमयाग में अग्नि के चयन का निषेध किया गया है न प्रथमाहारे । द्वितीय सोमयाग में इसका विधान किया जा सकता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में तापश्चित् नामक सत्र में भी अग्निचयन करने की विधि उपलब्ध है।

कृष्णयजुर्वेदीय संहिताओं एवं ब्राह्मणों में यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है कि अग्निचयन का विधान किस यज्ञ में करना चाहिए, परन्तु कतिपय ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जिनके बल पर यह कहा जा सकता है कि यह प्रस्थान भी अग्निचयन को स्वतंत्र यज्ञ का स्थान नहीं प्रदान करता और इसे सोमयाग का अंग ही मानता है। सोमयाग में विहित दक्षिणीय दृष्टि में आग्नावैष्णव एकादशपालक पुरोडाश का विधान है आग्नावैष्णवमेकादशकपालं पुरोडाशं निर्वपति ।" अग्नि-दीक्षा में वैश्वानर द्वादशकपालक पुरोडाश तथा आदित्य चरू के साथ आग्नावैष्णव का भी निर्वाप किया जाता है। अग्नि की औद्ग्रमण आहुति के साथ-साथ सोमयागीय औग्रमण आहुति देने के लिए निर्देश दिया गया है।" कृष्णयजुर्वेद के सभी श्रौतसूत्र चयन को सोमयाग के अंग के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। बौधायान अग्निचयन को सभी सोमयागों में करणीय मानते हैं। शुक्लयजुर्वेद प्रस्थान के समान बौधायान भी महाव्रत में अग्नि चयन को आवश्यक मानते हैं।" आपस्तम्ब श्रौतसूत्र का अभिमत है कि साद्यस्क, वाजपेय, षोडशी और सारस्वतसत्र के अतिरिक्त सभी सौमिक यज्ञों में अग्निचयन का अनुष्ठान किया जा सकता है।”

(i) अग्निचयन का अर्थ

अग्निचयन पद अग्नि और चयन दो शब्दों के मेल से बना है। यास्क अनुसार अग्नि का अर्थ अग्रणीर्भवति, अग्रं यज्ञेषु प्रणीय अन सत्रममान" अर्थात् यह अग्रणी है, यज्ञ में सबसे पहले प्रणीत की जाती है, झुकती हुई (वस्तुओं को) अङ्ग बना लेती है। अग्निचयन में चयन शब्द धातु का निशान लगाना चिव् (चयने) से निष्पन्न होता है। चिञ् चथने, इत्यस्य ल्युटि रूपम् ।" शत० ब्रा० अनुसार अग्निचयन कर्म और विद्या का बोधक है-- एषा है व सा विद्या, यदिग्न। एतदु है व तत् कर्म, यदिग्न अर्थात् कर्म की दृष्टि से अग्निचयन का अर्थ अग्नियों को चुनना है। यज्ञ में प्रमुख तीन अग्नियाँ - गार्हपत्य, दक्षिण, आहवनीय है, इसके अतिरिक्त सभ्य और आवसथ्य गृह्यसंज्ञक दो अग्नियों की भी स्थापना की जाती है। सभ्याग्नि जहाँ गुरु शिष्य को पढ़ाता है। आवसथ्य में गृह्यसूक्त संस्कार कर्म किये जाते हैं। पारस्करगृह्यसूत्रानुसार आवसथ्याधानं दारकाले, दायाद्य काले" अर्थात्

विवाह समय और दायभाग (बटवारे) के समय आवसथ्य अग्नि का प्रयोग होता है। इस प्रकार गार्हपत्य (वनस्पति), दक्षिणाग्नि (शमित), आहवनीय (देव अग्नि) श्रौत अग्नियाँ हैं तथा सभ्य तथा आवसथ्य स्मार्त अग्नियाँ हैं। वेदी के पश्चिम भाग में गार्हपत्य अग्नि, पूर्व भाग में आहवनीय तथा दक्षिण भाग में दक्षिणाग्नि की स्थापना की जानी चाहिए। आप श्रीत० (547-8) के अनुसार सभ्याग्नि को आहवनीय से पूर्व और आवसथ्याग्नि को सभ्याग्नि से पूर्व की ओर स्थापित करते हैं। गार्हपत्य अग्नि से ही दक्षिणाग्नि व आहवनीय अग्नि प्रज्वलित की जाती है। ये तीनों अग्नियाँ गार्हपत्य, आहवीय, दक्षिणाग्नि क्रमशः पार्थिव अग्नि, सौर अग्नि तथा अन्तरिक्ष की प्रतीक है। विवाह काल में जिस अग्नि में यज्ञ किया जाता है उसी को गृहस्थ अपने घर में प्रदीप्त रखता है उसे बुझने नहीं देता वह गार्हपत्य है। दक्षिणाग्नि से यज्ञ काल में पदार्थ लेने के लिए तैयार किए जाते हैं। जिसमें अग्निहोत्रादि किए जाते हैं वह आहवनीय हैं

आहवनीय अग्नि के निर्माण में ईंटों द्वारा निर्मित विभिन्न प्रस्तरों को चिति कहा गया है। इसी दृष्टि से अग्निचयन का दूसरा अभिधान अग्निचिति है तथा इसकी विशेष विधाएँ सुपर्णचिति, श्येनचिति आदि शब्दों द्वारा अभिहित होती हैं। यद्यपि यह चिति पद पूर्वकथिते चिञ् से निष्पन्न होता है, तथापि अग्निचयन विद्या भी है। अग्नि के इस विद्या रूप के कारण ही शंकर इसे उपनिषद् कहते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में सायण के अनुसार चिति शब्द √चिती से व्युत्पन्न होगा ।" आधुनिक विद्वान भी इसी तथ्य को स्वीकार करते हैं। अतः अग्निचयन, अग्निचिति तथा अग्नि शब्द अग्निचयन के ही बोधक हैं।

(ii) अग्निचयन का महत्त्व

जैमिनि मीमांसासूत्र (2.3.22) के अनुसार चयनेनेनं (अग्निम्) संस्कुरुते चिती स्थापयति अर्थात् चयन अग्नि का संस्कार है। वैदिक यज्ञों की विभिन्न विधाओं में अग्निचयन की कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं है, परन्तु अपनी महत्ता के कारण यजुर्वेदीय संहिताओं में इसका विवरण एक स्वतंत्र यज्ञ की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया गया है। याजुष संहिताओं एवम् ब्राह्मणों का अधिकांश भाग अग्निचयन की विधि और व्याख्या से भरा पड़ा है।

वस्तुतः अग्निचयन में अग्नि प्रजापति पुरुष की संरचना की जाती है। वह सकल वैश्विक पदार्थों का, ब्रह्माण्ड का तथा ब्रह्माण्ड में स्थित सभी अस्तित्वों के नामरूपात्मक संघात का प्रतिरूप है। सकल भूत और भाव्य भाव अग्निचयन में संनिहित हैं। इसी दृष्टि से अनेक आधुनिक विद्वानों ने भी अग्निचयन के सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। अग्निचयन अमृतत्व का विधायक है। सृष्टिविद्या एवं ब्रह्मविद्या के सारे सिद्धान्त इसी से निःसृत हुए हैं। उपनिषदों का पूर्ण बोध अग्निचयन के ज्ञान के बिना असंभव

है।" शैव और वैष्णव धर्मों का उदय अग्निचयन से हुआ। मंदिर संस्था और वास्तुविद्या के सिद्धान्तों का जनक भी अग्निचयन है। अग्निचयन को जीवन की पूर्णता का निदर्शक माना गया है।

5. पर्यायों की प्रतीकात्मकता एवं मिश्रित प्रतीक

ब्राह्मण ग्रन्थ अपनी व्याख्या में अपने आशय को स्पष्ट करते हुए बहुधा ऐसी वाक्यावलि विधि का प्रयोग करते हैं कि "जल ही यज्ञ है, वाक् ही पशु है, घृत ही तेज है, हिरण्य अमृत है, अग्नि संवत्सर है," इत्यादि। इनमें एकता तादात्म्य बताते हुए एक को दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है। ब्राह्मण व्याख्यानों में नानाविध यज्ञों के प्रयोजन, यज्ञविधियों की सार्थकता और यज्ञ-साधनों की उपयोगिता को ही समझाया गया है और इन्हीं सन्दर्भों में उपर्युक्त पर्याय दिये गये हैं। अतः एक ओर तो पर्यायों के केन्द्र बिन्दु को पकड़ने के लिए यज्ञों के स्वरूप को समझना आवश्यक है, और दूसरी ओर इन पर्यायों के आधारों को जाने बिना यज्ञों को पूर्णत: उद्घाटित करना असम्भव सा प्रतीत होता है।

सामान्यतः पर्यायों के मूल में यज्ञ का प्रतीकवाद निहित है क्योंकि यज्ञविधियों का विवरण यह स्पष्ट करता है कि तात्विक रूप से यज्ञ एक रूपक है, जिसकी प्रत्येक क्रिया और वस्तु के द्वारा प्रतीकात्क शैली में जीव जगत् के रहस्यों को व्यक्त करने की चेष्टा की गई है। अग्निचित याग इसका स्पष्ट उदाहरण है, जिसमें सृष्टि के तत्त्वों के प्रतीक रूप में ही नानाविध इष्टकाओं का आधान किया गया है। अग्निष्टोमयाग के दीक्षा-संस्कारों की क्रियाओं द्वारा गर्भस्य शिशु की स्थिति को चित्रित करना, अनेकों सोमग्रहों को प्राण-अपान, वाक्, दक्षक्रतु श्रोत्र, नेत्र, आत्मा, वीर्य और वायु आदि के रूप में वर्णित करना" भी स्पष्टतः इसी प्रतीक शैली की पुष्टि करते हैं। अग्न्याधान में गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों के आधानों को तीन प्राणों अथवा तीन लोकों को स्थापित करने के रूप में व्याख्यान करना भी यज्ञ-विधि की प्रतीकात्मक का ही प्रमाण देते हैं।

प्रतीकों पर आधारित पर्यायों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-

(i) प्रतीकमात्र

किसी अप्रस्तुत, परोक्ष अथवा अज्ञात वस्तु के लिए कोई भी प्रतीक स्वीकार कर लिया जाता है, यद्यपि दोनों में कोई भी साम्य नहीं होता है। यथा-

वैश्वदेव - पर्व में द्यावापृथिवी के लिए एक कपाल पुरोडाश की हवि बनाते हैं। इस पुरोडाश को पहले घी से तर करते हैं और फिर आहवनीय में आहुति देते हैं। इस विधि में प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, यजमानो वा एक कपालः आहवनीयः स्वर्गे लोको। इन दोनों के पर्यायों को स्पष्ट करते हुए ब्राह्मण करता है कि यत् सर्वहुतं करोति हविर्भूतमेवैनं स्वर्ग लोकं गमयति ।" अर्थात् इस सारे पुरोडाश की आहुति देता है (इसमें मानो) हविरूप इस (यजमान) को ही स्वर्ग लोक भेजता है। यहाँ पुरोडाश यजमान का प्रतीक मात्र है, और आहवनीय अग्नि स्वर्गलोक की प्रतीक है। यही इन पर्यायों का मूल है।

अग्निचितियाग में तीन स्वयंमातृणा - प्राकृतिक छिद्र वाली ईंटें रखीं जाती है। इनके लिए ब्राह्मणकार कहते हैं कि इयं वै प्रथमातृणा, अन्तरिक्षं द्वितीया, असौ तृतीया । एनामेव लोकानुपद्यत।" स्पष्टतः इन ईंटों को तीनों लोकों का प्रतीक मानकर इनसे स्वीकृत किया गया है और इनके आधान से तीनों लोकों की ऊर्ध्वस्थिति को ही व्यक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में इन ईंटों को प्राणों का प्रतीक मानकर कहा गया है कि प्राण वैस्वयमातृष्णा और इनके आधान का प्रयोजन है प्राणों का शरीर में निर्बाध संचरण करना। इसी तरह तीन गायों को भी तीन लोकों की प्रतीक मानकर दुहा जाता है कि इनके दोहन से मानो तीनों लोकों को ही दुह लिया जाता है।

द्विस्तना उखापात्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि अन्तरिक्षं वा उखा, इभी लोकी स्तनौ ।" इनके द्वारा सृष्टि रचना के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए उखा को अन्तरिक्ष और पाश्ववर्ती दोनों स्तनों को द्युलोक भूलोक का प्रतीक बताते हुए कहा गया है कि जैसे इस मध्यवर्ती सावकाश उखा के दोनों और दो स्तन हैं, वैसे ही सावकाश अन्तरिक्ष मध्य में और इसके दोनों पावों में द्यावापृथिवी लोक हैं।

सुव, जुह, उपभृत् आदि का आयु, प्राण, चक्षु और लोक आदि कहना भी इसी प्रतीक वर्ग के अन्तर्गत है।

(ii) मिश्रित प्रतीक

अनेक पर्याय ऐसे हैं जिनमें प्रतीकात्मक के साथ-साथ अन्य तत्त्वों की भी समानता मिल जाती है। इन तत्त्वों की समानता में गुणों, क्रियाओं, संख्याओं, सम्बन्धों, स्वरूपों आदि अनेक पहलुओं का समावेश होता है। यथा-

वाजपेययाग में प्रजापति के लिए सोम और सुरा के 17-17 ग्रह लिये जाते हैं। इस प्रक्रिया के प्रयोजन को स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रतीक पर्यायों का प्रयोग करते हुए कहा गया है प्रजापतिर्व सप्तदश, सप्तदश पुरुषो प्राजापत्यः श्रीर्वै सोमः, पाप्मा सुरोपयामा । इन चारों पर्यायों में दो संख्या पर आधारित प्रतीक हैं, और दो गुणों पर प्रजापति अथवा पुरुष सप्तदश क्यों है? इसके लिए ब्राह्मण कहता है कि सिर, ग्रीवा, आत्मा, चार प्रकार की वाणी और 10 प्राण इन सत्रह अंगों से युक्त होने के कारण प्रजापति पुरुष सप्तदश है और इसी प्रतीक रूप में सोम और सुरा के 17-17 ग्रह होते हैं। अतः यह संख्या साम्य पर आधारित पुरुष के स्वरूप को बताने वाला प्रतीक है और सोम को श्री कहना उसके शरीर पोषक गुण और सुरा को पाप्मा कहना उसके शरीर के स्वाभाविक रोग दोषगुण को स्पष्ट करता है। इस तरह से पर्याय गुणबोधक है, किन्तु कुल मिलाकर इन पर्यायों और विधि का स्वरूप प्रतीकात्मक ही है, क्योंकि सोम ग्रहों को अनुकूलता से ग्रहण करने का प्रतीकात्मक प्रयोजन पुरुष शरीर के सत्रों अंगों को श्री से सम्पन्न करता है, और सुराग्रहों के प्रतिकूल गति से दूर करने का आशय सब अंगों से दोषों का निराकरण करना है।

शतपथ ब्राह्मण यहाँ प्रजापति को सप्तदश न कहकर 'चतुर्चत्वारिंशद्' कहता है और उसका आधार और प्रयोजन इस प्रकार स्पष्ट करता है कि 33 देवता हैं, और 34वाँ प्रजापति है अतः 17 सोम और 17 सुरा कुल 34 ग्रहों के ग्रहण से प्रजापति को ही जीत लेते हैं। प्रयोजन की सिद्धि में तात्विक अन्तर न होते भी प्रतीक के आधार में भिन्नता होने के कारण ही पर्याय में भी अन्तर पड़ गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण इसे इस प्रतीक शैली में व्यक्त करता है सोम ब्रह्मा का तेज है, जिसे यजमान में रखते हैं, सुरा अन्न का शमल है जिसे यजमान से दूर कर देते हैं। सोम पुरुष है, सुरा स्वी है, प्रजनन के लिए इनका मिथुन होता है।

वस्तुतः ये तीन प्रकार के पर्याय तीन भिन्न पहलुओं को स्पष्ट करते हैं। प्रथम पर्याय सोम की उत्कृष्टता और हविरूप में देवों से उसके सम्बन्ध को तथा सुरा की हीनता और मनुष्यों से उसके सम्बन्ध को बताता है। यह पर्याय सम्बन्ध और स्तर को साथ-साथ अभिव्यक्त करता है। दूसरा पर्याय कुछ भिन्नता के साथ कहता है कि सोम में ज्ञान वर्धक गुण हैं, और सुरा अन्न की विकृति है। यह पर्याय गुण पर आश्रित हैं और तीसरा पर्याय मात्र लिंग पर निर्भर है। तीनों प्रयोजनों में एक साथ इतनी भिन्नता पर्यायों की ही नहीं, यज्ञविधि की प्रतीकात्मक को भी भली प्रकार स्पष्ट करती है।

6. प्रतीकाश्रित विनियोग

प्रतीक अर्थात् एक ऐसी वस्तु । जसकी किसी अन्य वस्तु के स्थान पर स्वीकार कर लिया जाता है। यथा दीक्षित व्यक्ति को एक दण्ड लकड़ी दिया जाता है। ब्राह्मण इसके औचित्य को स्पष्ट करते हुए कहता है कि दण्ड देने का तात्पर्य वाणी प्रदान करना है। इसलिए दण्ड का परिणाम मुखधन मुख तक लम्बा होता है, क्योंकि वाणी मुख से उत्पन्न होती है। इससे स्पष्ट है कि दण्ड को यहाँ वाणी के स्थान पर उसके प्रतीक रूप में स्वीकार किया गया है। लकड़ी आदि से निर्मित वाद्यों की ध्वनि राग उत्पन्न करने की क्षमता से प्रकट होता है कि वनस्पतियों में भी वाणी हैं। अतः वनस्पति निर्मित यह दण्ड वाणी का प्रतीक मान लिया जाए। मेखला को बाँधने का औचित्य बताते हुए ब्राह्मण कहता है कि इससे यजमान में बल का आधान किया जाता है। अर्थात् मेखला बल के प्रतीक रूप में स्वीकृत है। मेखला औषधि विशेष से बनाई जाती है और औषधि बलकारक होती है। अतः मेखला को बल का प्रतीक स्वीकार किया गया। इसी प्रकार प्रायः सभी यज्ञ क्रियायें किसी-न-किसी जीवनी-शक्ति या सृष्टि तत्त्व के प्रतीक रूप में की जाती है। मन्त्रों के विनियोग में भी ये प्रतीक नियामक होते हैं, यह स्वाभाविक है।

इस प्रकार यज्ञ-पात्रों स्रुव, जुहू, उपभृत इत्यादि को मांजते हुए मन्त्र बोला जाता है कि, "मैं आयु और प्राण को चक्षु और श्रोत्र को वाणी और पशुओं को तथा यज्ञ को और प्रजा को मांजता स्वच्छ करता हूँ।" शतपथ में वर्णित प्राण एवं सुवः और मैत्रायणी संहिता में चित्रित असा आदित्यः सुवः, छीजुई, आत्मा जुहूः अन्तरिक्षयुपभृत् प्रजा उपभूत पृथिवी ध्रुवाः, पशवो धुवा" के आधार पर इन पात्रों की प्रतीकात्मकता को जानकर ही इस मन्त्र के विनियोग का स्वरूप स्पष्ट होता है।

दशपूर्णमास की समाप्ति पर अध्वर्यु, जुहू और उपभृत् नामक युवाओं को क्रमश: ऊपर उठाते हुए और नीचे ले जाते हुए जो बोलता है, उसका भाव है कि, "इस उखान उद्यान से मुझे समृद्ध करो, और इस अधोगमन निग्राभ से मेरे शत्रुओं का नाश करो।" इसकी संगति भी ब्राह्मण के यजमान देवत्या वै जुहूः भातृव्योपभृत्" के प्रतीकपरक व्याख्यान से ही स्पष्ट होती है कि यजमान देवता वाली जुहू को उठाना मानो यजमान को ही समुन्नत करना है, और भ्रातृव्यदेवता वाली उपभृत् को नीचे करना मानो शत्रु को ही पराभृत करना है। ये दोनों सुवायें एक प्रसंग में आत्मा और प्रजा की प्रतीक मानी गई हैं, और इस प्रकरण में यजमान और भ्रातृव्य से सम्बद्ध की गई है।

दीक्षा संस्कार के समय कृष्णाजिन की श्वेत और कृष्ण वर्ण की रोमपंक्ति को छूते हुए कहा जाता है की ऋक्सामयो: शिल्पे स्थ।" । इस निवियोग को भी ब्राह्मण के निम्न प्रतीक व्याख्यान के आधार पर ही समझा जा सकता है कि ऋक् और साम यज्ञ का आधा (भाग) थे। ये दोनों अपने महत्त्व (पूर्ण भाग) को छिपाकर यज्ञ के पास गये। उनका यह महत्त्व दिन और रात बन गया। यह जो कृष्णाजिन का रूप है, यह इन दोनों का ही प्रतीक है। जो शुक्ल है, वह दिन का और जो कृष्ण है, वह रात्रि का रूप है।

वैदिक यज्ञ एवं उनके आधुनिक प्रतीक

यज्ञ वैदिक धर्म का मेरुदण्ड है। ऋग्वेद काल में यज्ञ शब्द यजन के सामान्य अर्थ में आया परन्तु बाद में अग्नि में आहुति देने के साथ जो अनेक प्रकार के कर्मानुष्ठान दिये जाते हैं, उसे ही यज्ञ कहते हैं। द्रव्यं देवतात्यागः' अर्थात् किसी विशिष्ट देवता को उद्देश्य बनाकर द्रव्य के त्याग को याग कहा जाता है। गार्हपत्य आदि वैदिक अग्नियों में विहित मन्त्र द्वारा किसी देवता विशेष को उद्दिष्ट कर विहित द्रव्य के प्रक्षेप को यज्ञ कहा जाता है, इसीलिए प्रत्येक याग के रूप में द्रव्य तथा देवता का निर्देश किया जाता है।

1. यज्ञों की संख्या

सामान्यतः यज्ञ की तीन संस्थाएँ हैं -

(1) पाकयज्ञ संस्था - इसमें औपासन होम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टकाश्राद्ध, मासिकश्राद्ध, श्रवणाकर्म, शूलगव आदि सात पाकयज्ञ संस्थाएँ हैं।

(2) हविर्यज्ञ संस्था - अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायण, चातुर्मास्य, निरूढ़ पशुबन्ध और सौत्रामणी आदि सात संस्थाएँ हैं।

(3) सोमयज्ञ संस्था - अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम ये सात सोमयज्ञ संस्थाएँ हैं।

इस प्रकार 7+7+7 21 यज्ञ संस्थाएँ हो जाती हैं। इन संस्थाओं को स्मार्त एवं श्रौत नामक दो संस्थाओं में विभक्त किया जाता है। सात पाक संस्था का निरुपण स्मृति तथा गृह्यसूत्रों में किया गया है। इनमें पके हुए अन्नों की आहुति दी जाती है। सात हविर्यज्ञ और सात सोम यज्ञ संस्थाओं की श्रौतसंस्था के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। इनका निरूपण श्रौतसूत्रों में किया गया है। हविर्यज्ञों में दूध, आज्य, चावल, जौ आदि द्रव्यों की आहुति दी जाती है। पशु संस्थाओं में पशु मुख्य यजनीय द्रव्य होता है। सोमयज्ञों में विशेष रूप से सोमरस की आहुति के साथ-साथ पशु-द्रव्य की आहुति भी दी जाती है।

सोमयज्ञों के कालजन्य भेद तीन हैं -

1. एकाह एक दिन में पूरा होने वाला यज्ञ ।

2. अहीन दो दिनों से लेकर बारह दिनों तक चलने वाला यज्ञ ।

3. सत्र - तेरह दिनों से लेकर पूरे वर्षभर या अधिक चलने वाला यज्ञ ।

उक्त श्रौत यज्ञों के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में प्रवर्ग्य, अग्निचयन, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषभेध, द्वादशाह, षडहयाग, अभिप्लव, विश्वजित् आदि सोमयज्ञों का भी वर्णन मिलता है।

वैदिक यज्ञों को पाँच भागों में विभक्त किया गया है- 1. अग्निहोत्र, 2. दर्शपूर्णमास, 3. चातुर्मास्य, 4. पशु और 5. सोम

सभी यज्ञ विधि विवरण की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं प्रकृति एवं विकृति । समग्रांगोपदेशः प्रकृतिः अर्थात् जिसमें अपेक्षित सभी अंगों का विवेचन किया है, उसे प्रकृति याग कहते हैं। अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास और ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम प्रकृति याग है। इनमें प्रसंग के सभी अंगों का विवरण दिया जाता है। प्रकृति याग में विवृति विधियों के अतिरिक्त कर्मों का ही विवरण जहाँ दिया जाता है, उसे विकृति याग कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ याग प्रकृति विकृति होते हैं। जैसे- चातुर्मास्य याग का प्रथम पर्व वैश्वदेव दर्शपूर्णमास की विकृति होने पर भी दूसरे पर्व वरुणप्रघास की प्रकृति है। कुछ याग न तो प्रकृति न ही विकृति न ही विकृति होते हैं, जैसे- चातुर्मास्यान्तर्गत ग्रहमेधयी इष्टि।

यज्ञों के प्रतीक

भारतीय दर्शन में प्रत्येक प्रतीक तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक। इन तीनों अर्थों को जान लेने पर ही हम प्रतीक का पूर्व अर्थ समझ सकते हैं। आधिभौतिक वह गुण है जिसकी उपमा के द्वारा हम कुछ समझाते हैं, आधिदैविक अर्थ उस गुण में निहित शक्ति, उस गुण को जन्म देने वाली शक्ति का ज्ञान है तथा आध्यात्मिक अर्थ में भाव में उस शक्ति को जानकर उसके विकास द्वारा आत्मिक उन्नति में अग्रसर होना है। वेद सामान्यतया यज्ञ की समान, व्यापक धारणा की अभिव्यक्ति करते हैं। वह यज्ञ पार्थिव है अर्थात् सामान्य मनुष्यों द्वारा भी किया जाता है। सुख का इच्छुक सामान्य मनुष्य अध्वर अर्थात् हिंसारहित यज्ञ में आहुतियाँ अर्पित करता है। वह यज्ञ दिव्य भी है, क्योंकि दिव्य जन अथवा विद्वान भी अथवा प्राकृतिक शक्तियाँ भी यज्ञ के चिह्न भूत अग्नि का समिन्धन करते हैं। ज्ञान के प्रकाश और भौतिक इच्छाओं वाले सभास्थल पर सम्पन्न यज्ञ में जहाँ दिव्य गुणों के इच्छुक नेतृत्व गुणयुक्त मनुष्य आनन्दित होते हैं,

जहाँ सबके स्वामी परमेश्वर को जीवन का उत्तम रस अर्पित किया जाता है वहाँ मनुष्य आनन्द को सर्वप्रथम प्राप्त होता है और उत्तम गति को प्राप्त करता है। इस प्रकार वैदिक यज्ञ भौतिक द्रव्यों के समर्पण और दिव्य ज्ञान की प्राप्ति का प्रतीक है। वैदिक यज्ञ मूल रूप में आध्यात्मिक, भावनात्मक अथवा सृष्टि सम्बन्धी यज्ञ का प्रतीक है। हविर्यज्ञ और सोमयज्ञों की प्रतीकात्मकता इस प्रकार स्पष्ट है-

अग्न्याधान

इस आधान यज्ञ द्वारा क्रमशः गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि को स्थापित किया जाता है। इन्हीं तीनों, अग्नियों में यथासमय यजमान के सभी यज्ञीय कार्य - श्रौत, स्मार्त और गृह्य यज्ञ अनुष्ठित किये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इन तीनों अग्नियों को प्राण, अपान और व्यान कहा गया है। इन अग्नियों का मन्थन करके देवों ने अपने में प्राणों को ही जीवित और स्थापित किया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इन अग्नियों को तीनों लोकों का प्रतीक माना गया है। अतः तीनों अग्नियों का आधान करना तीनों लोकों का व्यवस्थित विभाजन करने के समान है। गार्हपत्याग्नि पार्थिव अग्नि का प्रतीक है, आहवनीयाग्नि सौर अग्नि की तथा दक्षिणाग्नि अन्तरिक्षस्थ अग्नि की प्रतीक है। इन तीनों अग्नियों को क्रमशः वनस्पति, शमित और देव अग्नि कहा गया है।

श्रौतयाग

अग्निहोत्र

अग्निहोत्र शब्द का अर्थ है - अग्नये हूयते अस्मिन् तद् अग्निहोत्रम् अर्थात् जिस कर्म में अग्नि के लिए होम किया जाता है। मन्त्रपूर्वक अग्नि स्थापन करके सांय प्रातः नियम से किया जाने वाला होम। सायण भाष्यानुसार अग्निहोत्र वह कृत्य है जिसमें अग्नि के लिए होम किया जाता है।" यद्यपि अग्निहोत्र कर्म में दो देवता हैं- सांयकालीन कर्म का अग्नि, प्रातः कालीन का सूर्य, तथापि इस होम कर्म का आरम्भ सांयकाल में होता है, रात्रि का देवता अग्नि है। मानव रात्रि में अग्नि के सहारे ही कार्य करने में समर्थ होता है, इस कारण उभयकालीन कर्म की संज्ञा अग्निहोत्र रखी गई है। कपिष्ठ कठ संहिता अनुसार वह प्रथमाहुति अग्नि में दी गयी, उसी से सभी आहुतियाँ अग्नि में दी जाती हैं। अत: वह अग्निहोत्र कहा जाता है। 12 अग्निहोत्र को प्रजाओं की सृष्टि कहा गया है। प्रजापति ने अग्नि में में दी गई 13 आहुतियों द्वारा क्रमशः सात ग्राम्य पशुओं और छह: ऋतुओं को उत्पन्न किया था। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार होम द्वारा ही अंगिरसों ने औषधियों को और प्रजापति ने अग्नि,

वायु तथा आदित्य को उत्पन्न किया था। इन तीनों देवों ने क्रमशः प्राण, शरीर और आँखों के लिए आहुति देकर एक गाय को जन्म दिया। वही गाय अग्निहोत्र है। इसका ज्ञाता प्राण और अपान से अग्नि को प्रदीप्त करता है।

दर्शपूर्णमास

दर्श का अर्थ है - अमावस्या, पूर्ण का अर्थ है- पूर्णिमा दर्श शब्द की व्युत्पत्ति दृश् / धातु घञ् प्रत्यय लगकर हुई है जिसका अर्थ है दर्शन । प्रातः सूर्योदय से पहले पूर्व दिशा में चन्द्र की सूक्ष्म लेखा दिखाई पड़ती है। पूर्ण अर्थात् उजियाले पक्ष की अन्तिम तिथि जिस दिन चन्द्रमा का मण्डल पूर्ण दिखलाई पड़ता है।" महाभारत (12-29-114) में उल्लेख है

दर्शे च पूर्णमासे च चातुर्मास्ये पुनः पुनः । अयजद्वयमेधेन सहस्त्रं परिवत्सरान् ।।

पूर्णमासी शुक्ल पक्ष के अन्त्य तिथि के नाम है। दर्श-कृष्ण पक्ष के अन्त्य तिथि के नाम है।" शतपथ ब्राह्मण में इस याग के आधिदैविक सम्बन्ध का वर्णन करते हुए पूर्णिमा और अमावस्या को क्रमश: सूर्य-चन्द्रमा, पृथिवी- द्युलोक तथा दिन-रात का प्रतीक कहा गया है। इस याग में दुग्ध-हवि के लिए दुही जाती तीन गायें तीनों लोकों की प्रतीक हैं। पुरोडाश बनाने की तुलना सिरे की रचना से की गई है। दर्शपूर्णमास सभी इष्टियों की प्रकृति है।" सायण भाष्यानुसार इष्टियाँ दर्शपूर्णमास की विकृति होने के कारण साक्षात् रूप से दर्शपूर्णमास में अपेक्षित हैं।"

चातुर्मास्य

चातुर्मास + ण्य यज्ञ विशेष जो प्रत्येक चार मास बाद अर्थात् कार्तिक, फाल्गुन व आषाढ़ के आरम्भ में किया जाता है। चौमासा, आषाढ़ की पूर्णिमा या शुक्ला द्वादशी से कार्तिक की पूर्णिमा या शुक्ला द्वादशी तक का समय। इस काल में किया जाने वाला एक पौराणिक व्रत।" दर्शपूर्णमास के अनन्तर इस याग का विधान है। यह याग क्रमश: चार पर्वो का समूह है- वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध एवं शुनासीरीय। प्रथम पर्व में पयस्या आमिक्षा (पनीर) की विशिष्ट हवि दी जाती है, जिसके देवता विश्वदेव हैं, इसलिए इस पर्व को वैश्वदेव कहते हैं। द्वितीय पर्व में वरुण देवता के लिए प्रघास हवि दी जाती है, अतः इसको वरुणप्रघास नाम दिया गया है। तृतीय पर्व में सूर्योदय के साथ प्रथम हवि अतीकवात् अग्नि को अर्पित की जाती है, इसकी संज्ञा साकमेध (साकम् - शाथ, एध दीप्ति) है। चतुर्थ पर्व की प्रधान देवताएँ शुन (वायु या इन्द्र) तथा सीर (आदित्य) है, अतः यह शुनासीरीय के नाम से पुकारा जाता है। वसन्त में वैश्वदेव को, वर्षा में वरुणप्रघास से तथा

हेमन्त से साकमेध से यज्ञ करे। गोपथ इनको भैषज्य यज्ञ भी इसी कारण कहता है अथो भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि । तस्माद् ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते ।"

संक्षेपतः वैश्वदेव से जीवन, वरुणप्रपास से स्वास्थ्य, साकमेध से शत्रुरहित निर्दोषता और शुनासीर से समृद्धि प्राप्त करके उत्तम जीवन जीने की शक्ति पाना वस्तुतः जीवनविकास की एक सुन्दर क्रमिक प्रक्रिया है।

सौत्रामणीयाग

वह यज्ञ जो इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। इसमें इन्द्र की पापरूप मृत्यु से सम्यक्तया रक्षा की गई। यही सौत्रामणी का सौत्रामणीत्व है। जब इन्द्र ने त्वष्य के पुत्र सोमपायी विश्वरूप को मार दिया, तो बुद्ध त्वष्टा ने इन्द्र को सोम से वंचित कर दिया। इन्द्र ने उसके मद का विनाश करके सारा सोम पी लिया, जिससे उसकी सारी शक्ति क्षीण हो गई। इस यज्ञ से इन्द्र में पुन: शक्ति का संचरण हुआ और वह मृत्यु से बच गया। प्रतीक रूप में इसका मूल भाव है कि जब अत्यधिक मात्रा में पिया गया सोम शरीर के अन्दर पचकर शक्तिरूप में परिवर्तित होने के बदले बिना पचे ही अजीर्ण के रोगी की तरह निकलकर शरीर की शक्ति को क्षीण करने लगता है तब इस याग द्वारा शरीर की शक्ति में पुनः संस्थापन से शरीर रक्षा की जाती है। इस यज्ञ की एक-एक वस्तु पुरुष शरीर के विविध घटकों की प्रतीक है। अग्निष्टोम

अग्नि ही अग्निष्टोम है। अग्निष्टोम का निर्वचन करते हुए कहा गया है।

यज्ञायज्ञीय इत्यस्यामाग्नेय्यामुत्पन्नेन अग्नेष्टोमसान्मा समाप्तेरग्निटोम इतिनाम सम्पन्नमिति।" इसमें अग्नि की स्तुति की जाती है, इसलिए इसका नाम अग्निष्टोम है। अग्नि के अर्चन से जिस-जिस प्रयोजन की सिद्धि होती है, वे सभी इसके भी साध्य हैं। अग्निष्टोम से वैश्वदेवयज्ञ को बनाकर प्रजापति ने प्रजा का संवर्धन किया 2 अग्निष्टोम को ब्रह्म ब्रह्मवर्चस, आत्मा, वीर्य और प्रतिष्ठा भी कहा गया है। इसके यजन से देवों ने भूलोक पर विजय प्राप्त की थी। सोमयागों में यह प्रथम है, अतः इसे यज्ञमुख भी कहा जाता है। यह यज्ञ ज्योतिष्टोम नामक यज्ञ का रूपान्तर है और स्वर्ग की कामना के लिए किया जाता है। यह पाँच दिन में समाप्त होता है। इसका काल वसन्त है और द्रव्य सोम, देवता इन्द्र व वायु है।

उक्थ्य

अग्निष्टोम के आधार पर उक्थ्य किया जाता है। पशुकामना के लिए यह याग होता है। इसमें सवनीय पशुयाग के समय ऐन्द्राग्न देवता एक अतिरिक्त पशु का आलम्भन किया जाता है। अग्निष्टोम याग में 3 स्तोत्र एवं शस्त्र सायंसवन के समय अधिक पढ़े जाते हैं ये स्तोत्र एवं शस्त्र का उच्य नामधेय है। अग्निष्टोमीय चमसों को भरने के पश्चात् तीन चमसों के लिए सोम बचाया जाता है जो उक्थ्य याग में प्रयोग होता है। उक्थ्य से वरुणप्रघास यज्ञ का निर्माण करके प्रजा को वरुण के द्वारा ग्रहण कराया।"

षोडशी

उक्थ्य में पन्द्रह-पन्द्रह स्तोत्र होते हैं। उक्थ्य की विधियों के सम्पन्न होने पर षोडशी की विधियाँ आरम्भ की जाती हैं। इस याग में सोलह संख्या का विशेष महत्त्व है, अतः इसका नाम षोडशी (सोलह वाला) प्रसिद्ध हुआ है। इस याग में अन्तिम स्तोत्र शस्त्र सोलहवें हैं, इसलिए उनको षोडशी कहा जाता है। स्तोत्र शस्त्र के सम्बन्ध में ग्रह को षोडशी और ग्रह के सम्बन्ध में ऋतु को भी षोडशी नाम दिया गया है। षोडशी शस्त्र की ऋचाएँ, अनुष्टुप छन्द में हैं, सोलह अक्षरों के पाठ के पश्चात् 'ओउम्' का उच्चारण किया जाता है, इसमें सोलह अक्षरों वाला निविद का निवेश किया जाता है।

अतिरात्र

यह याग एक दिन में समाप्त नहीं होता, रात्रि भर निरन्तर चलता रहता है। और अगले दिन समाप्त होता है। रात्रि का अतिक्रमण होने के कारण इसका नाम अतिरात्र प्रसिद्ध हुआ है।" इस बाग में अधिक सोम आहुतियाँ दी जाती हैं, अतः सोमक्रम के समय अधिक परिमाण में सोम का ग्रहण किया जाता है। षोडशी ग्रह के पश्चात् ग्रह नहीं होते, केवल चमस ही होते हैं और उनका देवता इन्द्र है। अतिरात्र से साकमेध यज्ञ निर्माण करके इन्द्र ने वृत्र को मारा 25 प्रजा ब्रह्मवर्चस्, सर्वकामना की पूर्ति अथवा पशु की कामना में यह याग किया जाता है।

वाजपेययाग

'वाजपेय को सोमयाग माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण में यह राजसूय से भी उत्तम माना गया है। सोमयज्ञ संस्थाओं में इसका पाँचवां स्थान है" और इसकी प्रकृति अग्निष्टोम है। इसकी विशेषताओं के कारण इसका निरूपण स्वतंत्र याग के रूप में किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वाजपेय शब्द की अनेक निरुक्तियाँ मिलती हैं। 'वाज' का अर्थ है- अन्न, बल, गति। पेय का अर्थ है- पीना। अतः वाजपेय का अर्थ है- अन्न, पान, बल का पान अथवा गति का पान। अभिप्राय यह है कि इस याग में सोमपान करने से विशिष्ट अन्न, शक्ति एवं स्फूर्ति की प्राप्ति होती है। इस याग के अन्तिम स्तोत्र-शस्त्र का नाम

वाजपेय है। वाजपेय यज्ञ को केवल ब्राह्मण व क्षत्रिय ही कर सकते हैं। वाजपेय याग में सत्रह संख्या को विशेष स्थान प्राप्त है। प्रजापति सप्तदशात्मक है और वही यज्ञ है। आधिदैविक पक्ष में 12 महीने तथा शिशिर और हेमन्त को एक करके पाँच ऋतुएँ सप्तदश प्रजापति है। वाजपेय 17 दिन में सम्पन्न होता है। यूप की ऊँचाई 17 अरत्नि रखी जाती है। 17 सोमग्रह तथा 17 सुरा (दूध) ग्रह होते हैं। 17 स्तोत्रों व 17 शस्त्रों का प्रयोग होता, सत्रहवें स्तोत्र-शस्त्र का नाम ही वाजपेय है।

अप्तोर्याम

अप्तोर्याम शब्द की व्युत्पत्ति ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर इस प्रकार की जाती है - अप्तोः प्राप्त, यामः यज्ञ अप्तोर्यामः । अभिप्राय यह है - इसके द्वारा प्रजापति ने पृथक् हुए पशुओं को पुनः प्राप्त किया, अतः इसका नाम अप्तोर्याग प्रचलित हो गया। इसलिए उत्तम पशुओं की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को इसका अनुष्ठान करना चाहिए। इस याग का अनुष्ठान करने वाले को सभी पदार्थ प्राप्त होते हैं। यह याग अतिरात्र की विकृति माना जाता है। अतः रात्रि स्तोत्र शस्त्र और सन्धिस्तोत्र एवं आश्विन शस्त्र का अनुष्ठान प्रकृति सम्पन्न होने के पश्चात् अप्तोर्याम स्तोत्र-शस्त्रों का अनुष्ठान किया जाता है।

श्रौतयागों की प्रतीकात्मकता

शनै: शनै: यज्ञ के द्रव्यमय रूप के स्थान पर उसमें प्रतीकात्मकता और आन्तरिकता मुख्य होती गई। स्वाध्याय और ज्ञानयज्ञ इसी के प्रतिफल है। अन्ततः स्थिति यह हुई कि हर शुभ और मंगल कार्य को, जिसके अनुष्ठान-संपादन का प्रयोजन सर्वजनकल्याण रहा, यज्ञ कहा जाने लगा। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार जीवन की गतिशीलता ही यज्ञ है - चलते हुए वह सबको पवित्र कर देता है- एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते, एष ह यन्निटं सर्वं पुनाति (4.16.1) ।

2. प्राचीन प्रतीकों और आधुनिक प्रतीकों में अन्तर

वैदिक कोश अनुसार प्रति+इ+ईकन् = प्रतीक प्रतीत होते हैं या प्रतीत करवाये जाते है, जिनके द्वारा वे प्रतीत होते है अर्थात् प्रतीयन्ते प्रत्याय्यन्ते वार्था अनेन इति प्रतीकम् । अमरकोश में प्रतीक का अर्थ है अङ्गः प्रतीको अवयवः । अभिधानरत्नमाला में प्रतीक को पुल्लिङ्ग वाचक शब्द प्रतीयते प्रत्येति वा इति एक देश, अङ्ग, अवयव अर्थ दिया है।" इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में भी है, इसी का भाष्य करते हुए सायणाचय ने लिखा है - 29 तथाग्निः पृथु विस्तीर्णं प्रतीकं पृथिव्या अवयवं ।"

अर्थात् " उस अग्नि का विस्तार कर" पृथु ने पृथ्वी का प्रतीक अवयव बनाया, तो प्रतीक उसे कहेंगे, जो किसी का अंग हो अवयव हो। शास्त्रकारों का मत है कि दो सौ करोड़ वर्ष पूर्व सूर्य से पृथ्वी बनी। पृथु नामक विद्युत् आकाश गंगा से निकल कर पृथ्वी को घेरे हुए है। पृथ्वी सूर्य से बाहर सौ गुनी छोटी है, अण्डाकार है और 18½ मील प्रति सैकण्ड की गति से सूर्य की परिक्रमा करती रहती है। अतएव पृथ्वी सूर्य का अङ्ग है, अवयव है, प्रतीक है। तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ को पंचांग सम्पन्न कहा गया है। 30 पुराणों में भी इन पाँचों अवयवों का उल्लेख है - देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक्

और दक्षिणा । इनमें किसी भी एक अंग विशेष के अभाव या न्यूनाधिक्य की स्थिति में यज्ञावयी विकलांग हो जाता है, क्योंकि कामनाओं के पूरक देवता होते हैं। द्रव्य को देवों तक पहुँचाने एवं उन्हें यज्ञशाला में आहूत करने के साधन मन्त्र होते हैं। मन्त्रों का उच्चारण करने वाले ऋत्विज् होते हैं। ऋत्विजों को तृप्त करने पर अर्थात् दक्षिणा देने पर यज्ञ की पूर्णता व सफलता निर्भर होती है। इसलिए ये पाँचों अंग एक-दूसरे से सम्बन्धित ही नहीं अपितु पूर्णतया अन्योन्याश्रित भी हैं। यदि इन अंगों को यज्ञीय प्रतीक माने तो अनुचित नहीं होगा। प्रकृति का नियम है परिवर्तनशीलता। इसी नियमानुसार प्राचीन और आधुनिक वैदिक यज्ञों के विधि-विधान में ही परिवर्तन हुआ है, तो उनके इन प्रतीकों में भी परिवतर्नशीलता सम्भव है।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में अतिन्द्रियदर्शी ऋषि-मुनि नाना प्रकार के यज्ञ-यागानुष्ठानों में व्यस्त रहते थे। राज्यसिंहासनारूढ़ क्षत्रिय भी अपने अधिकार के अनुसार यज्ञ करते थे। उस समय साधारणतया सभी लोग यज्ञ को लौकिक और अलौकिक सभी प्रकार की फल प्राप्ति का प्रधान उपाय समझते थे। इसलिए उस समय यज्ञ की महिमा के सम्बन्ध में सभी की प्रगाढ़ श्रद्धा थी । कहा जाता है कि यज्ञ विहीन व्यक्ति का यह लोक भी सुखी नहीं है और परलोक में भी शान्ति नहीं है। ब्रह्म प्राप्ति के लिए स्वाध्याय, दान और तपस्या के साथ यज्ञ का भी उल्लेख है - तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन ।"

वर्तमान समय में यज्ञ का तात्पर्य और रहस्य अधिकांश लोगों को ज्ञात नहीं है। एक समय था, जिसका प्रत्यक्ष सत्य के रूप में सर्वत्र आदर था। आज वह सम्यक् ज्ञान और विधिपूर्वक अनुष्ठान के अभाव से मात्र एक निरर्थक आचार के रूप में बदल रहा है। यथार्थता तो यह है कि जो लोग सदाचार सम्पन्न एवं प्राचीन परम्परा के पक्षपाती होने से श्रद्धालु हैं, वे भी यज्ञ के तत्त्व और प्रयोग के विषय में उत्तम जानकारी नहीं रखते।" इसलिए यज्ञ के प्रति अधिकांश स्थलों में अनादर और उपेक्षाभाव दिखाई दे रहा है।

यज्ञ को सर्वात्मना सम्पन्न करने के लिए यज्ञ के जो उपर्युक्त पाँच अंग स्वीकार किये हैं, उन पर विचार किया जा रहा है.

1. देवता

आचार्य यास्क के अनुसार " देवता शब्द दान देने, द्योतित होने, - दीप्तिमान होने तथा द्युस्थानी होने के कारण सिद्ध होता है। यज्ञ में यजमान की मनोकामनाओं की पूर्ति के लिये दान कर्म करने के कारण देवतापद का यह निर्वचन अर्थ संगत ही

है। यज्ञ में अर्पित हवि एक मात्र देवताओं को ही प्राप्त होती है, जिसे प्राप्त कर वे प्रसन्न होते हैं। उनकी प्रसन्नता ही यजमान का कल्याण है। देवता दो प्रकार के होते हैं- 1. मनुष्य देव, 2. भौतिक देव, की संज्ञा से विश्रुत हैं। देवताओं को सत्यप्रिय कहा गया है" इसलिए ये सत्य के प्रतीक हैं। ये सत्य के पक्षधर एवं असत्य के विरोधी होते हैं। शतपथ के अनुसार - 'जो व्यक्ति विद्या ज्ञान से विभूषित, वेदज्ञ और महान् विपश्चित् होते हैं, उनकी गणना मनुष्य देव के अन्तर्गत की जाती है ये ब्राह्मणशुश्रूषां सोऽनूचानस्ते मनुष्य देवाः ।" विद्वान् पुरुष भी देवता की संज्ञा से विभूषित होते हैं। मनुष्यों में माता, पिता, आचार्य एवं पितरों को भी इस क्रम में देवता के रूप में उद्धृत किया गया है। मानव के इसी देवत्वारोपण के कारण देवों और मनुष्यों को साहचर्य विहित है उभये ह व इदमग्रे स हा सुदेवाश्च मनुष्याश्च ।"

भौतिक देवों की तीन विधायें 1. आजानज देवता, 2. कर्मदेवता तथा 3. आजान देवता। आजानज देवता तथा कर्म देवता दिव्यलोक में रहकर कृतकर्म का फल भोगते रहते हैं। आजान देवता सृष्टि के आदिकाल में उद्भूत हाते हैं, यथा- सूर्य, चन्द्र, वायु, वरुण, इन्द्र आदि। ये स्तुति तथा आहुति से सन्तुष्ट होते हैं और कर्मफल प्रदान करते हैं। इनमें से प्रथम दो कोटियों के देवता सभी अग्नि के माध्यम से ही हवि ग्रहण करते हैं। इसलिए अग्नि को देवता का मुख, सेनानी, गोपा एवं अश्व कहा गया है।" ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार तो अग्नि ही सर्व देव है।" यज्ञों में देवों की प्रधानता उनमें निहित दान, गुण एवं शक्तिमत्ता के आधार पर निश्चित होती है। बिना देवताह्वान किये यज्ञानुष्ठान सम्भव नहीं है। अतः देवों को देय हवियों का विधान कर उन्हें तृप्त करना यजमान के लिए अनिवार्य होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से 'एक सत्' के रूप में देवताओं की एकात्मकता ही सिद्ध होती है, तथापि ऋचाओं से लेकर परवर्ती साहित्य तक में बहुदेववाद का प्रतिपादन हुआ है। संहिताओं एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में देवताओं की संख्या 33 बतलायी गई है आचार्य यास्क ने पृथ्वी स्थानी, अन्तरिक्ष स्थानी एवं द्युस्थानी के रूप में देवों का त्रिधा विभाजन किया है- अग्निः पृथ्वी स्थानः वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः सूर्योद्युस्थानः "

यागों के अन्तर्गत देवों का आह्वान उनसे सम्बन्धित ऋचाओं, यजुषों एवं साम मन्त्रों द्वारा ही किया जाता है। इससे वे यज्ञ-कर्म में विनियुक्त होते हैं। मन्त्र किसी और देवता का नहीं, अपितु उसी देवता का होना चाहिए, तभी यज्ञकर्म की सफलता सम्भव है। आहुति देते समय विधिवाक्य में जिस देवता का नाम आया है, उसी को पढ़ना चाहिए, उसके पर्यायवाची पदों को नहीं, यथा अग्नये स्वाहा।

2. हविर्दव्य

ऋषि दयानन्द ने होम के लिए चार प्रकार के द्रव्यों को बताया है, यथा-

(प) सुगन्धित कस्तूरी, केसर, अगर, श्वेत- चन्दन, जायफल, जावित्री इत्यादि ।

ii) पुष्टिकारक - घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूं, उड़द आदि।

(iii) मिष्ट शक्कर, शहद, छुहारे, दाख इत्यादि ।

(iv) रोगनाशक- सोमलता अर्थात् गिलोय आदि ओषधियाँ ।

यज्ञ के हवि पदार्थों की संज्ञा द्रव्य है। देवताओं की प्रसन्नता हेतु उनके अभीष्ट पदार्थों का अर्पण अनिवार्य है, इनकी हविष् संज्ञा है। वास्तव में देवताओं के निमित्त अग्नि में आहुत यज्ञ के साधन भूत द्रव्य को हवि कहते हैं, ये तीन प्रकार के होते हैं.

-

(i) आहुति द्रव्य

(i) सोमाहुति, (ii) आज्याहुति। दो प्रकार के आहुति द्रव्य हैं। सोमाहुति केवल सोम यागों के निमित्त प्रयुक्त की जाती है। यह सोम नामक लता से निकाले गये रस की आहुति है। वर्तमान समय में सोम के स्थान पर गिलोय नामक औषधि की आहुति दी जाती है। जो सोम के समान गुणकारी है। आज्याहुति का प्रयोग हविर्यज्ञ एवं पशु आदि सभी यज्ञों में किया जाता है। गोघृत को सबसे उत्तम माना गया है।

(ii) होमद्रव्य

तिलादि को होमद्रव्य कहते हैं। पय, दधि, घृत, तैल, यवागू, तन्डुल, ओदन, सोमरस और माष ये दश पदार्थ होम द्रव्यों के अन्तर्गत आते हैं।

(iii) यागद्रव्य

यागद्रव्य के अन्तर्गत आज्य, पृषदाज्य, आमिक्षा, वाजिन, चरु, पुरोडाश, सुरा, सोम नामक पदार्थों की गणना की जाती है। इन पदार्थों में हवि, सोम आदि द्रव्यों की प्रधानता रही है। इनकी प्रधानता के ही आधार पर हर्वियज्ञ, सोमयज्ञ तथा पाकयज्ञ संस्थान तीन कोटियों में यज्ञों का विभाजन किया गया है। हवियों के अर्पणरूप कर्म से ही यजमान अपनी कामनाओं की पूर्ति में सक्षम होता है तथा यज्ञ फल के रूप में प्रभूत द्रव्यार्जन कर लेता है। अतः द्रव्य यज्ञ का अपरिहार्य अंग है।

आवश्यकतानुसार सब प्रकार के द्रव्यों से यज्ञ करे जिससे सूर्य (विष्णु या यज्ञ) अत्यन्त वायु शुद्धि के लिए समर्थ हो। सामग्री दोषरहित और तीव्र कल्याणकारी होनी चाहिए। ऐसी सामग्री से सम्पन्न यज्ञ अभीष्ट देने वाला होता है - वीतं हविः शमितं शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति । जैमिनी ब्राह्मण (1-19) में कहा है कि यदि पयः न हो तो किससे होम करें, तब व्रीहि यव से, यदि वे न मिले तो किससे हवन करें, तब अन्य किसी धान्य से, यदि अन्य धान न मिले तो किससे होम करे? तब आरण्य ओषधियों से, यदि ओषधियों की प्राप्ति भी न हो तो तब किससे होम करें, तब जल से। यदि प्रायः (जल) न मिले तब किससे होम करें, तब सत्य का श्रद्धा में होम करें।

3. मन्त्र

आचार्य यास्क ने मन्त्र को 'मन्' धातु से निष्पन्न माना है, क्योंकि शक्तिरूप होने से इनका मनन किया जाता है मन्त्रा मननात् । महर्षि जैमिनी ने तो यज्ञ के प्रेरक वाक्यों को मन्त्र माना है। यज्ञ में शक्ति सम्पन्न जिस शब्दराशि से हवि देवता के समीप योग्य रूप से पहुँचती है, वह शब्दराशि ही 'मन्त्र' कही जाती है। ये मन्त्र साधारण शब्द समूह नहीं है प्रत्युत उस शक्ति के प्रतीक है, जिनके लिए प्रयुक्त हुए होते हैं। मन्त्र याज्ञिक प्रक्रिया में ऋक्, यजुष् और साम नाम से परिभाषित हैं, अतः ये त्रयीविद्या कहे जाते हैं।" ऋग्वेद के अनुसार यज्ञ की सफलता मन्त्रों पर निर्भर करती है, तथा मन्त्र ही यज्ञ का भार वहन करते हैं। इसी के मन्त्र में ऐसा उल्लेख है कि जो मनुष्य, समिधा, आहुति तथा वेदमन्त्रों से अग्नि में यज्ञ करता है, वह यश, अश्वादि को प्राप्त करता है। उसे इन्द्रियजन्य तथा शरीरजन्य अपयश नहीं सताता इसलिए मन्त्रपूर्वक ही यज्ञानुष्ठान होना चाहिए। यजुष् मन्त्र तीनों लोकों का प्रतीक माना गया है- अद्धा वै तद्यदिमे लोका अद्धातद्यजुस्तस्मात्रियजुषा हरति।" यज्ञ में यजुषु मन्त्रों के उच्चारण से तीनों लोकों की बुराईयाँ दूर होती हैं। मन्त्रों के बिना यज्ञ के स्वरूप की और उसकी पूर्णता की कल्पना ही नहीं की जा सकती है, क्योंकि त्रयी विद्या रूप मन्त्र यज्ञ से अभिन्न है।" इसलिए ये पूर्णता के भी प्रतीक माने गये हैं। अतः यज्ञ में मन्त्रों का उच्चारण अनिवार्य ही नहीं अपरिहार्य है। शतपथ ब्राह्मण ने ऋक् और साम का वाणी के साथ तथा यजुष् का मन के साथ तादात्म्य स्थापित किया है- वागेवऽर्चश्च सामानि च मन एव यजूंषि.... ।" वाचा, मनसा, कर्मणा यज्ञानुष्ठान के लिए मन्त्रों का विनियोग आवश्यक है। इस प्रकार संहिताओं, ब्राह्मणों, कल्प-ग्रन्थों में प्राप्त यज्ञ और मन्त्र सम्बन्धी विवेचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल से ही यज्ञों में मन्त्रोच्चारण का विधान है। यह विधान भी औपचारिक नहीं प्रत्युत अनिवार्य है। मन्त्र के बिना यज्ञकर्म पूर्ण नहीं होता और उसमें देवों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः मन्त्र दैवी वाक् के प्रतीक हैं और यज्ञ दैवी सृष्टि का प्रतीक है। इसलिए पूर्णत: पवित्र दैवी यज्ञ को दैवी वाक् मन्त्र से युक्त कर यज्ञ को तद्योग्य बनाने लोक-कल्याण के लिए तथा यजमान के लिए मंगलकारी बनाने हेतु यज्ञों में मन्त्रोच्चारण विधि का निर्वहण अपरिहार्य है।

4. ऋत्विक्

'ऋत्विक्' शब्द 'ऋत' पद से 'उ' और इज (यज्) धातु के संयोग से बना है, जो ऋत (समय) पर यजन करता है, वही ऋत्विक् कहलाता है । यज्ञ मधुसूदन के अनुसार- "जो ब्राह्मण यजमान द्वारा दक्षिणा द्रव्यों से प्रसन्न होकर यजमान के कल्याणार्थ यजनशाला के अन्तर्गत कार्य करता है, उसे ऋत्विक् कहते हैं अथवा ऋतुओं में यजन सम्पन्न करवाने के कारण ऋत्विज् कहलाता है।

यो यजमानक्रीतः परार्थमन्तर्वेदिकर्म करोति स ऋत्विक् ।" ऋत्विक् बनने का अधिकारी एक मात्र ब्राह्मण को है। क्षत्रिय, वैश्य आदि इसके अधिकारी नहीं होते। यजमानों को अपने यज्ञ में ऋत्विजों के चयन में विद्या, कर्म और जन्म का विशेषरूप से ध्यान रखना आवश्यक माना गया है।" उनकी परीक्षा वर्ण, गोत्र, प्रवर, वेद, शाखा और सूत्र इन छः मापदण्डों के अनुसार की जानी चाहिए। होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा नामक चार प्रकार के प्रधान ऋत्विजों की यज्ञों में प्रधानता होती है। ये चारों प्रधान ऋत्विज् अपने-अपने वेद से सम्बद्ध होकर अपने यज्ञीय कर्म को निष्पन्न करते हैं। सायण के अनुसार होता का सम्बन्ध ऋग्वेद से होता है।" वह ऋग्वेद की ऋचाओं से देवताओं का यज्ञ में आह्वान करता है यो यजनीयान् देवानाहवयति स होता अध्वर्यु यजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाला ऋत्वि है। उसका कर्म यजुषों के माध्यम से यज्ञ में अनुष्ठान करता है। उद्गाता सामवेद से सम्बन्धित होता है। सामों का उच्च स्वर से गायन करना ही उसका कार्य है। ब्रह्मा का सम्बन्ध अथर्ववेद से जोड़ा गया है, तथापि यह अथर्ववेद के अतिरिक्त तोनों वेदों में विहित कर्म का जाता होता है स च ब्रह्मावेदत्रयोक्तसर्वकर्मभिज्ञः । यज्ञ में यथावसर अनुज्ञा प्रदान करना तथा विविध अनुष्ठानों का पर्यवेक्षण करते रहना उसका प्रमुख कर्तव्य है। छन्दोग्योपनिषद् के अनुसार यही यज्ञ है, वाणी तथा मन उस यज्ञ के दो मार्ग हैं। प्रथम मन मार्ग का संस्कार ब्रह्मा अपने मन के द्वारा करता है तथा दूसरे का संस्कार होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता अपने मन्त्रोच्चारण रूप वाणी के माध्यम से सम्पन्न करते हैं।" यज्ञ में हुई त्रुटियों का शोधन ब्रह्मा प्रायश्चित विधान देकर करता है।

उपर्युक्त ऋत्विजों में प्रत्येक के तीन-तीन सहायक ऋत्विक भी होते हैं। मैत्रावरुण, अच्छावाक् तथा ग्रावस्तोता होता के सहायक एवं प्रतिप्रस्थाता, नेष्टया और उन्नेता अध्वर्यु के सहायक हैं। इसी प्रकार उद्गाता के सहायक प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य तथा ब्रह्मा के ब्राह्मणाञ्छसी, आग्नीध्र और पोता हैं। इस प्रकार चार प्रमुख ऋत्विज् एवं बारह उनके सहायकों को मिलाकर ऋत्विजों की संख्या सोलह हो जाती है। सदस्य सप्तदशा ऋत्विजः भवन्ति के आधार पर कतिपय आचार्यों ने सदस्य नामक ऋत्विक् सहित सत्रहवें को भी नामित किया है। ज्ञातव्य है कि प्रत्येक यज्ञ संस्था के ऋत्विजों की संख्या

एक समान नहीं है। किन्हीं-किन्हीं यज्ञ संस्थाओं में 16 तथा 17 ऋत्विजों की आवश्यकता होती हैं, सब में नहीं। अग्निहोत्र में मात्र एक ऋत्विज् अध्वर्यु की, अग्न्याधेय दर्शपूर्णमास एवं अन्य दृष्टियों में चार ऋत्विजों अध्वर्यु, आग्नीध होता एवं ब्रह्मा की " तथा चातुर्मास्यों के लिए पाँच ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। दर्शपूर्णमास के लिए चार पुरोहित तथा प्रतिप्रस्थाता अत्यावश्यक है। पशुबन्ध याग में मैत्रावरुण नाम का छटा पुरोहित भी होता है। सोमयागों के लिए समस्त सोलह ऋत्विजों तथा साकमेध चातुर्मास्य पर्व में आग्नीध को 'ब्रह्मपुत्र' की संज्ञा दी गयी है।"

इस विवेचन से यज्ञ के ऋत्विज् नामक अंग के विषय में स्पष्ट होता है। कि यज्ञ के अनुष्ठाता ये ही ऋत्विज् जन हुआ करते हैं। इन्हें सम्पूर्ण यज्ञ का निर्धारण, आनुष्ठानिक ज्ञान होता है। मन्त्र विनियोग, कामपूरक देवताओं एवं यज्ञों का निर्धारण यही करते हैं। इनकी कुशलता एवं दक्षता यज्ञ की सफलता को प्रभावित करती है। अकुशल ऋत्विजों से सम्पादित बाग नाशकारी होता है। अतएव यजमानों के लिए अत्यावश्यक है कि वे ऋत्विक वरण करते समय उनकी परीक्षा अवश्य करवा ले।

6. दक्षिणा

दक्षिणा पद दक्ष+इनन् (दक्षिण) आच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस पुल्लिंग पद का अर्थ "दाहिनी और" या "दक्षिण दिशा में" होता है, तथा स्त्रीलिंग दक्षिण शब्द से टापू प्रत्यय लगाने पर निर्मित इस पद का अर्थ " दक्षिण दिशा अथवा यज्ञ कर्म की सम्पन्नता पर ऋत्विजों को दिया जाने वाला द्रव्य है। दक्ष धातु के माध्यम से दक्षिणा पद की समृद्धध्यर्थकता की सिद्धि होती है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, "जब यज्ञ का वध हो गया तथा वह शक्तिहीन बन गया, तब देवों ने दक्षिणा द्वारा यज्ञ को परिपूरित किया। यह यज्ञ दक्षिणाओं द्वारा दक्ष हो गया, इसलिए इसका नाम दक्षिणा पड़ा।" स एष यज्ञो हतो न ददक्षे। तं देवा दक्षिणाभिः अक्षयं तस्मात् दक्षिणा नाम्।" यास्क भी समृद्ध्यर्थक दक्ष धातु से ही दक्षिणा पद की निर्मिति स्वीकार करते हैं।" इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि यज्ञ में जो कुछ न्यून होता है उसे दक्षिणा दूर करती है तथा प्रदक्षिणा क्रम से अथवा दक्षिण दिशा की ओर आसीन रहने वाले ऋत्विजों को दाहिने हाथ से दिये जाने के कारण इसका नाम दक्षिणा पड़ा। यज्ञ को दक्षता के कारण हो दक्षिणा का महत्त्व अन्य ग्रन्थकारों ने भी स्वीकारा है।

यज्ञान्त में यजमान द्वारा ऋत्विजों को पारश्रमिकस्वरूप दिये जाने वाले द्रव्य का नाम दक्षिणा है। दक्षिणा रहित यज्ञ निष्फल होता है। शतपथ ब्राह्मण भी दक्षिणा रहित यज्ञ का निषेध करता है - नादक्षिणेन हविषा यजेत ।" अतएव यज्ञ से पूर्णतया लाभान्वित होने के लिए यथाविहित दक्षिणा प्रदान करना श्रेयस्कर होता है। सामान्यता दक्षिणा में गौ, हिरण्य,

भूमि, अन्न, वस्त्र अथवा अन्य कोई वस्तु देव होती है अग्नि पुराण के अनुसार स्वर्ण, अश्व, तिल, गज, भूमि, दासी, रथ, गृह, कन्या एवं कपिलानी आदि दक्षिणा के सर्वोत्तम् पदार्थ हैं।" ऋत्विजों के कर्म भेद से दक्षिणा द्रव्य और उसके परिमाण में भी भेद होना स्वाभाविक है। यज्ञ में सर्वोत्तम द्रव्य ही दक्षिणा के रूप में प्रदेय है। वैदिक काल से ही गाय दक्षिणा के देय पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ एवं पवित्र मानी जाती रही है।" यही कारण है कि परवर्तकाल में गौ की दक्षिण इतनी श्रेष्ठ मानी गयी कि दक्षिणा एवं गी एक-दूसरे के पर्याय बन गये हैं।

यज्ञमधुसूदन" के मतानुसार यज्ञों में देव दक्षिण पदार्थों के आधार पर ऋत्विजों का चतुर्धा वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। प्रथम भाग में क्रमश: होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा आते हैं, जो पूर्ण दक्षिणा के अधिकारी होते हैं। द्वितीय भाग में मैत्रावरुण, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता और ब्राह्मणी नामक ऋत्विजों की गणना है, जिन्हें प्रथम भाग की दक्षिणा से आधी दी जाती है। अतएव ये 'अद्वधन्' की संज्ञा से अभिहित किये गये हैं ये द्वितीया मैत्रावरुणायादयस्ते प्रथम दक्षिणापेक्षया अर्धदक्षिणां लभन्ते तस्मादर्धिनः ।

तृतीय भाग में आने वाले ऋत्विज् क्रमश: अच्छावाक्ष्य प्रतिहर्ता और आग्नीध्र हैं, जिन्हें प्रथम भाग की दक्षिणा का तृतीयांश दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप उन्हें तृतीयिन् की संज्ञा दी गयी है तृतीयांश दक्षिणां लभन्ते । तस्मातृतीयिनः । चतुर्थ भाग में आने वाले ऋत्विज क्रमशः ग्रावस्तोता, उन्नेता, सुब्रह्मण्य और पोता है। इन्हें प्रथम भाग की दक्षिणा का चतुर्थांश प्रदान किया जाता है। इसलिए इन्हें 'पादी' की उपाधि से विभूषित किया गया है- चतुर्थाश लभन्ते । इत्यस्ते ते पादिन् उच्यते।

वैदिक धर्म कर्मकाण्ड प्रधान है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में यज्ञों की 115 आनुष्ठानिक प्रक्रियाओं, रहस्य तथा परिणाम आदि का प्रतिपादन किया गया है। प्राचीन समय में या वर्तमान समय में किए जाने वाले यज्ञों के देवता, हविर्द्रव्य, मन्त्र, ऋत्विक् तथा दक्षिणा पञ्चांग हैं। ये यज्ञ की पूर्णता तथा सफलता के प्रतीक हैं। शास्त्रकारों ने मन्त्रहीन, श्रद्धाहीन, विधिहीन यज्ञों को यजमान का विनाश करने वाला कहा है। यज्ञ में यदि मन्त्रोच्चारण गलत होगा, तो आहुतियाँ देने का अर्थ ही गलत हो जायेगा और यज्ञ का उद्देश्य भी भ्रष्ट हो जायेगा। यदि यज्ञीय सामग्री के निर्माण में त्रुटि होगी, हवि रूप पदार्थों का तीव्र अग्नि में पाचन नहीं होगा, ऋतु, देश, काल का ध्यान न रखते हुए स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रतिकूल पदार्थों का यज्ञ में प्रयोग होगा, तो ऐसा यह यजमान एवं यज्ञ कर्त्ताओं का विनाश भी कर देगा तब तो नास्ति यज्ञ समो रिषु यह कथन चरितार्थ होगा।

इसलिए समग्र यज्ञों की सफलता हेतु इनका तथा विहित विधानों के अनुसार अनुष्ठान सम्पन्न किया जाना नितान्त आवश्यक एवं वैज्ञानिक है।

3. प्राचीन प्रतीकों का महत्त्व एवं उनका मानस अस्तित्त्व

प्रतीक का अर्थ है चिह्न प्रतीक वह है जो किसी अन्य स्तर पर अपनी - स्थिति या समतुल्य यथार्थ के द्वारा सन्दर्भ के रूप में सुनिश्चित स्थिति पर वर्तमान रहता है। प्रतीक के विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह यथार्थ को बलपूर्वक प्रदर्शित तो करता ही है और किसी को अस्वीकारता नहीं है। प्रतीक का सम्बन्ध इतिहास, अनुष्ठान एवं विविध कलाओं से है। निश्चित रूप से यज्ञ कर्म एवं उससे प्रयुक्त सहायक उपकरण अथवा पदार्थ लौकिक जगत् की वस्तुएँ न होकर प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों की भी प्रतीक हैं। जो 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रतिपादित यज्ञों में प्रयुक्त उपकरणों की प्रतीकात्मक

व्याख्या से पूर्णतः स्पष्ट है।

यज्ञ की सभी विधियाँ अर्थात् कृत्य तथा उनमें प्रयुक्त पाशादि सभी प्रतीकात्मक हैं। यह की इसी प्रतीकात्मक के कारण दर्शपौर्णमास को भी

'तैत्तिरीय संहिता' में देवरथ कहा गया है एष वै देवरथो यद्दर्शपूर्णमासी “

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार संसार में दो ही बाते हैं अनश्वर और नश्वर । देवता अनश्वर है और मनुष्य नश्वर । अतः यज्ञ व्यक्ति के लिए देवत्व प्राप्ति का साधन माना गया है। यज्ञ दैवी है, इसलिए इसमें प्रयुक्त सभी उपकरण अथवा पदार्थ भी दैवी होने चाहिए। मनुष्य नश्वर होने के कारण उससे सम्बद्ध सभी वस्तुएँ भी नश्वर होंगी। ऐसी स्थिति में अनश्वर से सत्य की प्राप्ति कैसे हो सकती है। इसके लिए सृष्टि के प्रतीक रूप यज्ञ में प्रयुक्त उपकरणादि भी किसी न किसी दैवी तत्त्व के प्रतीक होते हैं, उदाहरणार्थ-

1. जल

यज्ञ का प्रथम पदार्थ जल है" जो सृष्टि का प्रतीक है, क्योंकि यही सृष्टि का आदि तत्त्व माना गया है। यज्ञ प्रजापति का प्रतीक है, और प्रजापति ने सृष्टि के लिए सर्वप्रथम जल को ही प्रयुक्त किया था। यज्ञ में सर्वप्रथम जल ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण (6.8.22) में कहा गया है आपो वा अस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा अर्थात् जल जगत् की प्रतिष्ठा है। जल सर्वत्र व्याप्त है इसलिए यह व्यापकत्व का भी प्रतीक है। जल पवित्रता का प्रतीक है पवित्रं वाऽआपः । शत० ब्रा० (1.2.10)। इसके सेवन से यजमान तो पवित्र होता ही है, साथ ही यज्ञीय उपकरणों को भी जल से पवित्र करके यज्ञ में प्रयोग लाया जाता है। जल वज्र का प्रतीक है, वज्रो वाऽआपः (श०ब्रा०, 3. 1.2.6, तै०स०, , 1.1.4.), क्योंकि जल जहाँ अति वेग से गिरता है वहाँ खड्डा कर देता है अत्यधिक जल जहाँ होता है वृक्षादि को गला देता है तथा बिना जल से ये नष्ट हो जाते हैं। वज्र के भी खड्डा करना व गिरने पर नष्ट करना ये दो ही कार्य होते हैं। इसलिए देवों ने जलरूपी वज्र की खोज की और उसके संरक्षण में यज्ञ अर्थात् सृष्टि का विस्तार किया।

2. अनस्

अनस् हवि के धान की गाड़ी है जिससे हवि निर्मित करने के लिए धान लिया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से अनस् अन् 'प्राणने' से शरीर का प्रतीक है", जिसमें प्राण का संचार होता है और यहाँ से ली जाने वाली हवि अथवा सोम आत्मा का प्रतीक है जिस प्रकार लोक में आत्मा शरीर से संयुक्त होकर सृष्टि में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार हवि से युक्त अनस् यज्ञरूप सृष्टि से संयुक्त होती है। अत: हवि युक्त अनस् प्राणवान् शरीर का प्रतीक है। यज्ञ में सोम अथवा हवि निर्मित करने हेतु धान अनस से ग्रहण किया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है - भूमा वाऽअन: (५.५.३.०) अर्थात् यह बहुतायत का प्रतीक है। वस्तुतः गाड़ी बहुतायत का चिह्न है, जो चीज बहुत होती है उसके लिए गाड़ी का प्रयोग करते हैं। परोक्ष रूप से यह यज्ञ का भी प्रतीक है। अनस का जुआ अग्नि का प्रतीक है, जुएँ के मध्यभाग में लगा हुआ दण्ड वेटी का और धान रखने का स्थान हविर्धन का प्रतीक है।" इस प्रकार अनस् यज्ञ का प्रतीक है, जो यज्ञरूप सृष्टि कर्म में संयुक्त किया जाता है।

3. कृष्णाजिन (काला मृगचर्म)

यज्ञ में इसका प्रयोग व्रीहि आदि हवि के कूटने के लिए उलूखल के नीचे बिछाने के लिए किया जाता है।" कृष्णमृगचर्म पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक का प्रतीक है क्योंकि इससे श्वेत, कृष्ण तथा भूरा रंग होता है जो तीन लोक हैं। इसका श्वेत रंग सूर्य का प्रतीक है क्योंकि सूर्य का प्रकाश श्वेत होता है। कृष्णवर्ण पृथिवी का प्रतीक है क्योंकि पृथ्वी कृष्णवर्ण है इसमें से कृष्ण रश्मियाँ निकलती हैं जो सूर्य के प्रकाश से वास्तविक रूप में दिखाई नहीं देती। कृष्ण एवं श्वेत वर्ण के मध्य जो भूरा रंग है वह अन्तरिक्ष का प्रतीक है। इसका देवी नाम शर्म है।" शर्म का अर्थ है- कल्याणकारक या मंगलकारी। यज्ञ

भी मंगलदायक होता है अतः मङ्गलरूप यज्ञ का आधार भी कल्याणकारी होना चाहिए, इसलिए इसे यज्ञ रूप माना गया है। यज्ञ के कूटने, फटकने वाले कर्म कृष्णाजिन पर किए जाते हैं, जिससे कुछ नीचे गिरे तो इसी पर गिरे और यज्ञ की पूर्णता नष्ट न हो। अतः यह यज्ञ के गौरव तथा इसकी रक्षा का प्रतीक है।

4. जुहू, उपभृत् और ध्रुवा

प्रमुख होमों में प्रयोग को जाने वाली स्रुच् की संज्ञा जुहू है। यह पलाश काष्ठ से निर्मित एक अरत्नि या बाहुमात्र लम्बी होती है। आहुति देने वाले खुच् या चमस् को उपभृत् कहते हैं। यह अश्वत्थ काष्ठ से निर्मित जुहू जैसा ही होता है। होमार्थ सुच् के द्वारा दिए जाने वाले आज्य को आहित करने वाले स्रूच की संज्ञा ध्रुवा है। यह विकंकत काष्ठ का होता है और यह भी जुहू के आकार जैसा होता है। वस्तुत: आहुति देने वाले चमसों का समष्टिगत नाम स्रुच् है और यह पाँच प्रकार की होती है, परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तीन ही मानी गई है। इनमें जुहू 'द्यौ' का प्रतीक है, उपभृत् अन्तरिक्ष का और ध्रुवा पृथिवी का क्योंकि पृथिवी से ही सब लोक उत्पन्न होते हैं, अतः ध्रुवा से सब यज्ञ उत्पन्न होते हैं।2 आध्यात्मिक दृष्टि से जुहू 'वाक् "" का प्रतीक है और लौकिक दृष्टि से 'यजमान का क्योंकि जुहू से मुख्य आहुति दी जाती है और यज्ञ का मुख्य प्रतीक पात्र यजमान होता है। उपभृत् 'मन" का प्रतीक है और ध्रुवा आत्मा का", क्योंकि ध्रुवा से ही सब यज्ञ उत्पन्न माने जाते हैं और आत्मा से ही सम्पूर्ण सृष्टि सत्तावान् होती है तथा सभी अंग प्रत्यंग प्रादुर्भूत होते हैं।

5. उलूखल-मुसल

उलूखल मुसल यज्ञायु काष्ठ से निर्मित पुरोडाश सम्बन्धी व्रीहि आदि कूटने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उलूखल योनी (उपस्थ) तथा मुसल शिशु (उपस्थेन्द्रिय) के प्रतीक हैं।" यहाँ ध्यातव्य है कि जिस प्रकार सृष्टि के लिए शिश्न योनि में प्रवेश कर प्रजनन के लिए गर्भाधान करता है उसी प्रकार उलूखल और मुसल संयुक्त होकर यज्ञ सम्पादन हेतु पुरोडाश के लिए व्रीहि को कूटकर तैयार करते हैं। कठ संहिता के अनुसार यह विष्णु की नाभि का प्रतीक है- यदुलूखमुपदधाति विष्णोरेव नाभावग्निचिनुते (कठ० ५.३)। उलूखल का कार्य कूटने की क्रिया द्वारा सार एवं असार को अलग करना है। धान्य से उसका छिलका' जो असार तत्त्व है अलग किया जाता है। बुद्धि एवं विवेक द्वारा हम ग्राह्य एवं अग्राह्य का निर्णय करते हैं, दोनों को अलग करते हैं इसलिए ये बुद्धि एवं विवेक के प्रतीक हैं।"

6. दुषद्-उपल

दृषद् उपल भी यज्ञायुध कहे जाते हैं तथा चरू अथवा पुरोडाश के लिए व्रीहि को पीसने में सहायक होते हैं। वस्तुतः दृषद् पृथ्वी का प्रतीक है और उसके ऊपर रखी जाने वाली शमी अन्तरिक्ष का तथा उपल द्यु का प्रतीक माना गया है क्योंकि यु और पृथ्वी अन्तरिक्ष के द्वारा स्थिर किये जाते हैं। जिस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि पृथ्वी पर विस्तृत है और उसका आधार यु और अन्तरिक्ष लोकों में है उसी प्रकार यज्ञ का हव्यपदार्थ जो स्वयं यज्ञ की पूर्णता का कारण है वह व्रीहि (चावल) इसी दृषद् के ऊपर फैला हुआ यज्ञानुष्ठान के लिए तैयार किया जाता है। अतः ये इन लोकों के प्रतीक हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से ये दोनों दो जबड़ों के प्रतीक तथा शमी जिह्वा का प्रतीक मानी गई है क्योंकि जठराग्नि में भी दी जाने वाली अन की आहुति जठराग्नि के लिए कूट-पीस कर (चबाकर) योग्य बनाई जाती है।

7. स्पय और यूप

इनका परिगणन भी यज्ञायुधों में किया गया है। स्पय खदिर काष्ठ से निर्मित अनिमात्र लम्बी, चार अंगुल विस्तार वाली खड्ग आकृति की होती है। वेदी में रेखा खींचने में इसका प्रयोग किया जाता है। यूप में यज्ञ पशुओं को बांधा जाता है। यज्ञ में यज्ञायुध के रूप में प्रयुक्त ये दोनों इन्द्र के वज्र के प्रतीक हैं, जो वज्र के चार टुकड़ों में से दो हैं तथा शेष दो, रथ और बाण हैं, जिसका प्रयोग क्षत्रिय युद्ध में करते हैं।" कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में स्प्य देवताओं के वज्र का प्रतीक है क्योंकि देवों ने अध्वर के निर्विघ्न समाप्ति के लिए जैसे वज्र का प्रयोग किया था, उसी प्रकार अध्वर्यु यज्ञ के समय इसका प्रयोग करता है।

8. खुवा और खुच्

खुवा खदिर काष्ठ से निर्मित अनिमात्र लम्बा तथा गोलाकार मुँहवाला होता है। आज्यस्थाली से आज्य निकालकर जुहू आदि खुचों में डालने के लिए छोटे चमस् के रूप में इसका प्रयोग होता है। इसकी उपमा शतपथ ब्राह्मण में पवन से दी गई है। अतः यह पवन का प्रतीक है, जिस प्रकार वायु का संचार सभी लोकों में होता है, तथैव खुवा सभी सुचाओं तक पहुँच जाती है तस्मादु - खुवः सर्वा अनु स्रुचः सच्चरति ।" लौकिक दृष्टि से सुवा पुरुष का प्रतीक है तथा सुच् स्वी का पुरुष के पीछे-पीछे स्त्री गमन करती है उसी प्रकार वेदी पर पहले खुवा और बाद में खुच् का सम्मार्जन होता है ।" आध्यात्मिक दृष्टि से सुवा प्राण का और स्रुच सभी अंगों का प्रतीक है, क्योंकि प्राण सब अंगों में संचार करता है, इसी प्रकार सुवा का भी आज्य आदि सभी स्रुचों में लिया जाता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आहुति देने के पश्चात् प्रजापति के हाथों को रगड़ने से विकंकत की उत्पत्ति हुई, अतः यह यज्ञपात्रीय वृक्ष हैं।" इसीलिए अन्य यज्ञ सम्बन्धी पात्र इससे निर्मित किये जाते हैं।

9. शूर्प और अग्निहोत्रहवणी

शूर्प (सूप) बाँस की पतली सींक या सरकण्डे का बना होता है। इसमें चर्म या नाड़ का प्रयोग वर्जित है। यह अहिंसा का प्रतीक है। सायण अनुसार इससे व्रीहि आदि हवि बिना साफ किये यदि यज्ञ में प्रयोग में लाया जायेगा तो अस्वच्छ हवि के साथ कीड़े-मकोड़े आदि जन्तु भी जलकर मर जायेंगे, जिससे यज्ञ में हिंसा हो जाएगी, इसलिए यज्ञीय उपयोग में लाने से पूर्व हवियों को शूर्प से साफ करना अनिवार्य है।" अग्निहोत्रहवणी की लम्बाई बाहुमात्र (24 अंगुल) होती है। इसका मुख वृत्ताकार होता है। यह विकङ्कत वृक्ष की बनी होती है।" इससे अग्निहोत्र किया जाता है- अग्निहोत्रं हूयतेऽनयेति। इससे प्रात: होम में मुख्य दूध की आहुति दी जाती है। ये दोनों पात्र व्यापकता के प्रतीक हैं यज्ञाय हि तस्मादाह कर्मण वामिति वेषाय वामिति वेवेष्टीव हि यज्ञम्" अर्थात् तुम दोनों का प्रयोग यज्ञ कर्म की व्यापकता के लिए किया जाता है क्योंकि यजमान यज्ञ में व्यापक होता है। शूर्प पुरुष का प्रतीक है, जिस प्रकार पुरुष में विवेकशील गुण होता है उसी प्रकार शूर्प भी तुषादि को पृथक् करके विवेकी रूपी वायु से उड़ा देता है - वायुर्ध्वो विविनक्तु ।" अग्निहोत्रहवणी स्त्री का प्रतीक है क्योंकि श्रद्धा में सत्य का हवन होता है।" सत्य का प्रतिनिधि घृत दूध को रखा है। घृत प्रत्यक्ष ज्ञानरूप दूध का सार है। जिस प्रकार सन्तानाग्नि के उत्पन्न होने पर वही सत्यरूप दूध जननी के स्तनों द्वारा सन्तानाग्नि में हवन होता है उसी प्रकार अग्निहोत्रहवनी से दूध की आहुति द्वारा यज्ञाग्नि में हवन होता है।

10. वेदी तथा बर्हि

यह यज्ञ का आधार है, जिससे सभी कृत्य सम्पादित किये जाते हैं। यद्यपि यह पात्र नहीं है तथापि इस प्रसङ्ग में इसकी प्रतीकात्मकता का संकेत करना अनुचित नहीं होगा। आधिदैविक दृष्टि से यह पृथिवी का प्रतीक है", क्योंकि इसी वेदी के द्वारा देवों ने सम्पूर्ण पृथ्वी को राक्षसों से जीता था। राक्षसों का इससे कथमपि सम्पर्क न हो इसलिए इस पर ओषधिरूप बर्हि बिछाया जाता है। इस वेदी पर पहली तीन रेखाओं का घेरा पुनश्च तीन रेखाओं का घेरा छः ऋतुओं का प्रतीक है और पुनः संवत्सर प्रजापति का प्रतीक बन जाता है।" प्रथम घेरे में छः व्याहृतियाँ और दूसरे घेरे में पुन छः व्याहृतियाँ बारह मासों का प्रतीक है। भौतिक दृष्टि से देखने पर वेदी स्त्री का प्रतीक है और अग्नि पुरुष का वेदी में अग्नि की स्थापना स्त्री में पुरुष रूप रेतस् की स्थापना का प्रतीक है। जिसमें सृष्टि रूप यज्ञ सम्पन्न होता है, अतः यज्ञ प्रकारान्तर से सृष्टि का ही प्रतीक है।" देदी स्त्री का प्रतीक है और यज्ञ के साथ देवता और विद्वान् ऋत्विक् वेदी के चारों ओर विद्यमान रहते हैं, इसलिए स्त्री को नग्न नहीं होना चाहिए, इस कारण इसके ऊपर बर्हि बिछाया जाता है -

योषा वै वेदिः तामेतद्देवाश्च पर्यासते, ये चेमे ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः तेष्वेवैनामेत् पर्यासीनेष्वनग्नां करोति । वेदी पर बिछाया गया बर्हि यौवन का प्रतीक है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार तस्या वेदिरूपस्या लोमानि बर्हिः" अर्थात् यौवन काल में स्त्री के जो रोभ उदय होते हैं, वही वर्हि होते हैं। अतः बर्हि यौवन का प्रतीक है। इसलिए स्त्री रूपी वेदी पर यह विछाया जाता है। बर्हि पृथिवी लोक का भी प्रतीक है क्योंकि इसी पृथिवी पर औषधियाँ उत्पन्न होती हैं और औषधि की को भी बर्हि कहते हैं ।" यजमान यज्ञ द्वारा पृथिवी लोक में औषधि की स्थापना करता है। बर्हि उन समस्त तत्त्वों का प्रतिनिधि है जो वृद्धिगत है। यह प्रजा और पशुओं का भी प्रतीक है क्योंकि प्रजा से समाज व राष्ट्र वृद्धि को प्राप्त होते हैं। पशुओं के दुग्ध, वृत आदि से भी मनुष्य वृद्धि को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार संहिताओं, ब्राह्मणों और आरण्यकों में उपलब्ध यज्ञों पात्रों एवं उपकरणों से सम्बद्ध प्रतीकों के विवेचन के आधार पर ऐसा प्रतीत हेता है। कि यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले सभी उपकरण प्राकृतिक सृष्टि यज्ञ में प्रयुक्त प्राकृतिक अथवा दैवी तत्त्वों के प्रतीक हैं। जब यज्ञ स्वयं प्रजापति के सृष्टि यज्ञ का प्रतीक है और प्रकृति में निरंतर चलने वाले प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर परिकल्पित है तब निश्चय ही इस यज्ञ में उपयोगी सभी पात्र भी सृष्टि यज्ञ में काम आने वाले प्राकृतिक तत्त्वों के प्रतीक हैं अथवा देवी हैं। यहाँ पर संक्षेप रूप में मुख्य पात्रों या उपकरणों की प्रतीकात्मकता पर विचार किया गया है, इसी आधार पर अन्यों की प्रतीकात्मकता पर विचार अपेक्षित है।

क्रिया का सिद्धान्त - यज्ञ एक प्रतीकात्मक क्रिया

आधुनिक विश्व में सभी सामाजिक, सांस्कृतिक अनुशासन इस तथ्य को मानते हैं कि उनके अध्ययन का समुचित क्षेत्र मानव-क्रिया है। प्रतीकवाद का सिद्धान्त और क्रिया का सिद्धान्त अन्योन्याश्रित है। ये दोनों ज्ञानमीमांसा एवं सैद्धांतिक मीमांसा के सोपानक्रम से जुड़े हैं। वस्तुतः यह कथन नहीं है परन्तु इसको संकेत किया जा सकता है अथवा नकारात्मकरूप में इसका अनुभव किया जा सकता है। यज्ञ एक प्रतीकात्मक क्रिया है। वस्तुतः क्रिया के सिद्धान्त की व्याख्या प्रतीक के सिद्धान्त का पूरक है।

मैक्समूलर, बेबर आदि पाश्चात्य विद्वान् क्रिया को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि सामाजिक क्रिया एक ऐसी क्रिया है जो दूसरी क्रिया की ओर संकेत करती है। इस स्थिति में प्रत्येक क्रिया सामाजिक हो जायेगी और इसका सामाजिक विशेषण भी निरर्थक होगा ।" अतः यह एक विरोधाभास है, सामाजिक क्रिया के साथ वैयक्तिक क्रिया की उपेक्षा कर दी गई है। यह इसलिए हुआ, क्योंकि क्रिया के सन्दर्भ में स्थित 'अन्य' का विवेचन नहीं किया गया है। सभी क्रियाओं का त्रिविधि विभाजन संभव है आर्थिक तकनीकी, राजनैतिक क्रिया और सांस्कृतिक धार्मिक क्रिया। ध्यातव्य है कि सोपानक्रम में सांस्कृतिक धार्मिक क्रिया सबसे ऊपर है, तकनीकी आर्थिक सबसे नीचे और राजनैतिक क्रिया मध्यवर्ती है। अध्ययन की दृष्टि से यहाँ सांस्कृतिक धार्मिक क्रिया ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। अतएव इसी का विवेचन अपेक्षित है। यह सही है कि ये क्रियाएँ मानव को मानव बनाने, विश्व के साथ उसका तादात्म्य स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुई है।

वाजसनेयिसंहिता की प्रथम कण्डिका में प्रयुक्त श्रेष्ठतम कर्म की व्याख्या करते हुए महीधर ने क्रिया का चतुर्धा विभाजन किया है, अप्रशस्त, प्रशस्त, श्रेष्ठ तथा श्रेष्ठतम् । लोकविरुद्ध हत्या, चारी आदि कार्य अप्रशस्त कर्म है। लोक में प्रशंसित बन्धु बांधवों का पालन-पोषण प्रशस्त कर्म है। धर्मशास्त्रों में वर्णित वापी, कूप, तालाब आदि लोकोपकारी कार्य श्रेष्ठ कर्म के अंतर्गत आते हैं। वेदविहित यज्ञ का कार्य श्रेष्ठतम है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यज्ञकर्म को सर्वातिशायी बताया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट है यज्ञ एक ऐसी सुन्दर तथा सुदृढ़ नौका है, जिससे व्यक्ति की चेतना स्वनिष्ठ यथार्थ को पारकर परम यथार्थ की चेतना से तादात्म्य की स्थापना कर सकती है। या प्रथम धर्म है ऋक् संहिता में अभिव्यक्त है चाहे यज्ञ हो, कला हो, कविता हो, यजमान कलाकार और कवि उसी महत् देवता से इन विधाओं के द्वारा संवाद करता है। एवं प्रेरणा लेता है। यह संवाद सदैव परोक्षरूप से होता रहता है, क्योंकि वह आत्मिक ज्ञान पर आधारित है दुर्विज्ञानं काव्यं देवतानाम्। परोक्ष रूप से विश्वजित् यज्ञ महाव्रत है। वह इन साधनों के द्वारा प्रत्यक्षरूप से अन्न प्राप्त करता है। इसका

कारण यह है कि मनुष्य जो स्वयं प्रत्यक्षरूप से पाता है, वह परोक्षत: देवताओं को प्राप्त होता है। इस दृष्टि से सभी वैदिक यज्ञ रहस्यमय एवं अनुकरणीय कर्म है। वस्तुतः धार्मिक जीवन सामाजिक जीवन की प्रदीप्त रेखा है।

प्रत्येक क्रिया तभी तक उचित एवं नैतिक है जब तक वह यज्ञ अथवा अनुष्ठान की भावना से की जाती है। अतएव शुद्ध एवं सत्यमय जीवन का अर्थ उसकी प्रत्येक क्रिया के अनुष्ठान में निहित है। इस प्रकार यज्ञ पूरी सामाजिक क्रिया का आधार है। व्यक्ति दिक्काल सापेक्ष होता है, प्रत्येक अस्तित्व की यही स्थिति है, अतएव जीवन को अर्थवत्ता की प्रतिमाओं से आच्छादित कर उसे सार्थकता प्रदान करने के लिए केवल एक ही उपाय है, इसके प्रत्येक अणु को यज्ञ के द्वारा शाश्वत् सत् से परिवर्तित करता रहे। यदि आधुनिक विश्व प्राचीन मानसिकता का उपहास करता है तो वह इसलिए कि वह याज्ञिक या आनुष्ठानिक प्रक्रिया के संस्पर्श से बचित है या मूल को छूने का प्रयास नहीं करना चाहता है।

5. आधुनिक प्रतीकों की वैज्ञानिकता

वैदिक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक कर्म 'यज्ञ' से भलीभाँति जुड़ा हुआ है क्योंकि अग्नि का अविष्कार मन्त्रों के युग से हुआ था। ऋग्वेद में वैज्ञानिक विज्ञान तीन प्रकार की अग्नि पर अवलम्बित है- 1. पार्थिवाग्नि, 2. अन्तरिक्षाग्नि (विद्युत्) और द्युलोकाग्नि (सूर्य)। यज्ञ का सम्बन्ध मुख्य रूप से पार्थिवाग्नि और गौण रूप से अन्तरिक्षाग्नि व द्युलोकाग्नि से भी है। भौतिक विज्ञान भी प्रकाश, उष्मा और विद्युत् के रूप में त्रिविध अग्नियों का अध्ययन करता है। इसमें प्रकाश एवं उष्मा का सबसे बड़ा स्रोत 'सूर्य' को माना गया है। द्युलोक में यही सूर्य का प्रकाश महान् अग्नि के मुख की भाँति है- अग्नेरनीकं बृहतः सपर्यं दिविशुक्रं यजतं सूर्यस्य ।

विज्ञान में मुख्यतः पदार्थ तीन रूपों में विभक्त किए जाते हैं- 1. बेस (काष्ठ, बर्फ आदि), 2. तरल (द्रव्य, जल, दुग्ध आदि) और 3. गैस (हवा, वाष्प) आदि इन्हीं पदार्थों से जगत् की संरचना हुई है। इन तीन पदार्थ भेदों से यज्ञ का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि पदार्थ का दूसरा नाम द्रव्य भी है और अग्निहोत्रादि यज्ञ को 'द्रव्ययज्ञ' भी कहते हैं, क्योंकि द्रव्यों के बिना यज्ञ सम्पादित नहीं होता। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली समिधा, यज्ञपात्र, कलश, यज्ञवेदी आदि ठोस पदार्थ हैं, हव्यद्रव्य के रूप में प्रयुक्त घृत, जल, दुग्ध इत्यादि तरल पदार्थ हैं तथा हव्य द्रव्यों के जलने से समुत्पन्न नानाविध सुगन्धित और पुष्टिकारक वाष्प ही गैसीय पदार्थ हैं। यज्ञों में विज्ञान की आवश्यकता इसलिए भी होती है कि यहों का प्रायः प्रयोग जल-वृष्टि, वायु-शुद्धि आदि के लिए होता रहा है अतः याज्ञिकों को वायु, जल और अग्नि के सूक्ष्म कार्यों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि वर्षा वायु-चक्र पर और गर्मी सर्दी, ग्रह उपग्रह और पृथिवी की गति पर अवलम्बित हैं।

सृष्टि की साम्यावस्था में सभी पदार्थ एक रूप होते हैं, किसी का पृथक अस्तित्व नहीं रहता, सर्वत्र एकरूपता और एकरसता होती है। इस स्थिति को आधुनिक वैज्ञानिक नाभिक कहते हैं, परन्तु यज्ञ मन्त्रों में उसे 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। अथर्ववेद में भी ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि परमेश्वर ने महान् व्यापक मूल तत्त्व से तैंतीस लोकों का निर्माण किया और उन लोकों में ज्ञानार्थ उन्होंने यज्ञ की सृष्टि की इस प्रकार यह न केवल सृष्टि का प्रतीक है प्रत्युत उसकी व्याख्या भी है जिसका सम्बन्ध विज्ञान से है।

यज्ञ वस्तुतः सृष्टि का शाश्वत नियम है जो परमाणु से लेकर 'महत्' तत्त्व पर्यन्त निरन्तर गतिमान है। एक तत्त्व में अनेक यज्ञ उसके केन्द्रों और उपकेन्द्रों में चलते रहते हैं। अतः सृष्टि का समस्त कार्य यज्ञमय है और यज्ञ से ही संचालित होता है।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।

अर्थात् परमात्मा के तप से प्रादुर्भूत ऋत और सत्य से ही सृष्टि का द्विविधशक्तिमय रूप बनकर क्रमपूर्वक चलता रहता है, जो मूल में भी दृष्टिगोचर होता है। ऋतु गतिशील तत्त्व है और सत्य केन्द्रभूत ।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने सृष्टि के जिस मौलिक तत्त्व परमाणु का अन्वेषण किया उसमें उन्हें ऋत अर्थात् 'इलेक्ट्रोन' गतिशील रूप में तथा सत्य अर्थात् 'प्रोयेन' केन्द्रस्थित रूप में दृष्टिगोचर हुआ है। अतः निरन्तर गतिमान कर्म रूप यज्ञ ही ऋत और सत्य है।

यज्ञ की प्रतिष्ठा सत्य पर आधृत है, क्योंकि सत्य ज्ञान, सत्य वाणी, सत्य कर्म, सत्य श्रद्धा, सत्य नियम और सत्य निश्चय के बिना कोई यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता। अतः सत्य ही मूल है। अग्नि और सूर्य का यज्ञ से गहन सम्बन्ध है, क्योंकि अग्नि के बिना यज्ञ सम्भव नहीं है 10 और सूर्य किरणे ही अग्नि द्वारा यज्ञ में हुत पदार्थों को प्राप्त कर आकाश में सुरक्षित करती हैं" और रासायनिक परिवर्तन से विविध कार्यों का सम्पादन भी करती है एतदर्थ अग्नि तत्त्ववाहक दूत है, अतः इससे श्रेष्ठ यज्ञ का कोई उत्तम साधन नहीं है जो हविरन्न को प्रज्ज्वलित कर उसके सूक्ष्म तत्त्वांश को सभी देवों तक पहुँचा सके। चक्षु के कार्य की उपादेयता तो स्वतः सिद्ध है, क्योंकि चक्षु का तात्पर्य समग्र प्रत्यक्ष साधन इन्द्रियों से है जिसके आधार पर यज्ञादि कार्य सम्पादित होते हैं चक्षुश्च मे यज्ञेन कल्पताम् ।" मन का विचार कर्म ही यज्ञ है। इसकी पवित्रता, , के लिए भी

यज्ञानुष्ठान किए जाते हैं, क्योंकि मन के स्वस्थ होने पर ही यज्ञ रूपी कर्म सुचारु रूप से सम्पन्न होता है 14, इसलिए यज्ञ सम्पादन के अवसर पर ऋत्विजों और याज्ञिकों के लिए व्रत धारण कर सात्त्विक आहार करने की व्यवस्था की गयी है इससे वेदपाठियों का मन पवित्र होने से स्मृति ठीक बनी रहती है। यही कारण है कि यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों के यथाविधि सम्पादनार्थ यजुर्वेद में उपासक द्वारा मन को शिवसंकल्प बनाने की बारम्बार प्रार्थना की गई है - तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।"" अतः सात्त्विक वाणी और मन से 'यज्ञ सम्पादित होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह कहा जा सकता है कि वैदिक सृष्टि-यज्ञ जिन-जिन तत्त्वों अथवा पदार्थों से सम्बन्ध रखता है उन्हीं तत्त्वों अथवा पदार्थों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में भौतिक विज्ञान से है तथा यह विज्ञान जिन तत्त्वों का विवेचन करता है उन्हीं का विवेचन यह सृष्टि-विज्ञान रूप यज्ञ भी करता है। अतः भौतिक विज्ञान जिन-जिन सुख-सुविधाओं का जनक है उन-उन को देने में वैदिक यज्ञ की सक्षम है। वस्तुतः यज्ञ भी एक सृष्टि विज्ञानाश्रित क्रिया है। अतः निःसन्देह वैदिक यज्ञ और विज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है।